हँसने-हँसानेवाली चुनी हुई पुस्तकें

गधे की कहानी	...	...	१।=)
नटखट पाँडे	...	...	२॥)
लबड़धोंधों	...	...	१॥।=)
रावबहादुर	...	...	१।)
मूर्ख-मंडली	...		२)
प्रायश्चित्त-प्रहसन	...	...	।)
मिस्टर व्यास की कथा	...	...	४)
अचलायतन	....	...	१)
विचित्र वीर	...	...	१)
विवाह-विज्ञापन	...	...	२)
निठल्लू की राम-कहानी	...	...	१)
ईश्वरीय न्याय	...	....	१)
कंट्रोल	...	...	२)
नवाब लटकन	...	...	२)
बीबी के लेक्चर	....	...	२।=)
शास्त्री शाहब	...	...	३)
कुंद जेहन	...	...	२=)

हिंदुस्थान-भर की हिंदी-पुस्तकें मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार, ३६, गौतम बुद्ध-मार्ग, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का १४२वाँ पुष्प

आलोचना व

हास्य-रस

[संशोधित और संवर्द्धित]

लेखक
श्रीजी० पी० श्रीवास्तव बी० ए०, एल्-एल्० बी०
[काग़ज़ी करतब, नोक-झोंक, मरदानी औरत,
लंबी दाढ़ी, दुमदार आदमी आदि पुस्तकों
के रचयिता]

—— —:※:— ——

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, गौतम बुद्ध-मार्ग
लखनऊ

तृतीयावृत्ति] सन् १९५५ [मूल्य २)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. भारती (भाषा)-भवन, ३८१०, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
३. सुधा-प्रकाशन, भारत-आश्रम, राजा बाजार, लखनऊ

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के सभी प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

प्रस्तावना

हिंदी में हास्य-रस के इने-गिने लेखकों में हास्य-रस के आचार्य श्रीजी० पी० श्रीवास्तव बी० ए०, एल्-एल्० बी० परम प्रसिद्ध हैं। आपने पिछले बीस-बाईस वर्षों में जो हिंदी-सेवा की है, वह सराहनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक में आपके तीन (और अब पाँच) महत्त्व-पूर्ण भाषण सम्मिलित हैं। पहला भाषण आपने द्विवेदी-मेला, प्रयाग के काव्य-परिहास-सम्मेलन में, दूसरा कलकत्ते के परिहास-सम्मेलन में और तीसरा पटना-कॉलेज के हास्य-रस-सम्मेलन में, सभापति के पद से, दिया था।

आरंभ के दो भाषणों में आपने हास्य-रस की जो व्याख्या की है, उसका जो व्याकरण लिखा है, उसके जिन सूत्रों का पता लगाया है, वह हिंदी में एक नई वस्तु है। उससे आपकी विद्वत्ता और गंभीर विचार-शक्ति का पता चलता है। हास्य-रस के सिद्धांतों के साथ-साथ आपने जो मनोरंजक प्रयोग और उदाहरण पुस्तक के बीच-बीच में दिए हैं, उनसे पुस्तक खिलखिला उठी है। बात समझ में आती है, और लेखक की गहरी पैठ तथा ज़िंदादिली का सबूत मिलता है।

पटने में २० नवंबर, सन् १९३२ में श्रीजी० पी० श्रीवास्तव के सभापतित्व में जो हास्य-रस-सम्मेलन हुआ था, उसमें एक छात्र ने श्रीवास्तवजी के परिचय के संबंध में यह खूब ही कहा था—

"ईश्वर को तो सभी जानते हैं, मगर उनसे भी मशहूर शैतान है, और शैतान से भी अधिक मशहूर कौन है ? श्रीजी० पी० श्रीवास्तव।"

वास्तव में ऐसी ही कुछ बात है। क्योंकि हिंदी-संसार में ऐसा कौन है,

त्तम संसार के हास्य-साहित्य में स्थान पाने का अधिकार प्राप्त कर सके हैं। × × ×"

हिंदी-नाट्य-परिषद्, कलकत्ता का अभिनंदन-पत्र (ता० ११-१०-३३)—"× × × आपने अपने निर्वाचित हास्य-रस के क्षेत्र में वह सफलता प्राप्त की है, जिसका दावा कदाचित् ही कोई साहित्य-महारथी कर सकता है। हे साहित्य-मंदिर के श्रेष्ठ उपासक, हमारा-आपका और भी घनिष्ठ संबंध है। आपके नाटकों का अभिनय कलकत्ते के साहित्य-कला-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित कर हिंदी-नाट्य-परिषद् ने आपका तथा साथ-ही-साथ अपना भी नाम अमर कर दिया है। आपकी सरपट चलती हुई बामुहाविरा भाषा, आपका स्मित हास्यकारक विनोद तथा साहित्य-पटुता आप ही के समान भारती के वर-पुत्र के उपयुक्त है। × × ×"

नवयुवक-साहित्य-मंडल, कलकत्ता का अभिनंदन-पत्र (ता० ११-१०-३३)—"× × × कहना न होगा कि हिंदी-संसार को इस रस (हास्य-रस) के अभाव का अनुभव बहुत दिनों से हो रहा था। कतिपय लेखकों एवं कवियों ने इस अभाव की पूर्ति करने की भी चेष्टा की, और बहुतों को बहुत कुछ सफलता भी मिली, परंतु जिस अभाव की पूर्ति सदियों में न हो सकी थी, उसे आपने कुछ वर्षों ही में कर दिखाया। × × ×"

जिस कला की अपूर्व सफलता पर श्रीवास्तवजी का इतना नाम है, उसी के रहस्यों की व्याख्या, ता० २०-११-३२, ५-५-३३ और ८-१०-३३ को श्रीवास्तवजी ने पटना, प्रयाग और कलकत्ते के हास्य-रस, काव्य-परिहास और परिहास-सम्मेलनों में सभापति के आसन से, अपने भाषणों में, की है, वह हमारे साहित्य के लिये ऐसी चिरस्थायी और अतुल्य संपत्ति है कि उस पर हमारी मातृभाषा को वास्तविक गर्व है। हास्य रस के मर्म, महत्त्व, उद्देश्य, कला, युक्ति, भेद, प्रयोग आदि सभी

अंगोंपर इन भाषणों में श्रीवास्तवजी ने जैसा उत्तम और गहरा प्रकाश डाला है, वैसा आज तक देखा न गया था। इन बातों को श्रीवास्तवजी ने छोटी-छोटी और मामूली-मामूली मिसालों से इस खूबी से समझा दिया है कि हास्य-कला का कोई रहस्य छिपा नहीं रह जाता। उन्हीं भाषणों का संग्रह आज हम हिंदी-संसार के समक्ष भेंट करते हैं।

आशा है, हास्य-रस के प्रेमी पाठक इस पुस्तक को भी श्रीवास्तवजी की अन्यान्य पुस्तकों की तरह ही खूब अपनाएँगे, जिसमें हम उनकी कोई और कृति लेकर शीघ्र ही सेवा में उपस्थित हों।

कवि-कुटीर, लखनऊ
१। २। ३४

दुलारेलाल

*

नवीन संस्करण

हमारे पाठकों ने श्रीवास्तवजी की इस अनुपम कृति का आदर करके इसका नवीन संस्करण निकालने के लिये जो हमें उत्साहित किया है, उसके लिये हम उनके विशेष आभारी हैं। किसी ने इसे साहित्य-संबंधी दर्शन-शास्त्र की उच्च कोटि की रचना बताई, तो किसी ने यहाँ तक कहा है कि साहित्य-कला-संबंधी—विशेषकर हास्य-कला पर ऐसी कोई पुस्तक किसी भी साहित्य में नहीं देखी है। उस पर तारीफ़ यह कि दर्शन-शास्त्र तथा कला-संबंधी बातें जो स्वभावतः अत्यंत ही शुष्क, कठिन और गूढ़ हुआ करती हैं, वे भी श्रीवास्तवजी की अपूर्व और ओजस्विनी लेखनी द्वारा ऐसी सरल और हास्यमय हो गई हैं कि श्रीवास्तवजी के अथाह ज्ञान और लेखनी के चमत्कार पर बस चकित होकर रह जाना पड़ता है। यह पुस्तक केवल मनोरंजन ही के लिये नहीं है, वरन् विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य और हमारे साहित्य के लिये अटल और चिरस्थायी संपत्ति है। क्योंकि हास्य का भांडार तो है ही, परंतु इसके साथ साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से भी अनमोल है। इस बार इसमें श्रीवास्तवजी के दो नवीन भाषण (१) नाटक बनाम टाकी और (२) शिक्षा के आवश्यकीय अंग भी सम्मिलित किए गए हैं, जिससे इसका गौरव तथा उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

मई, १९५४ }   दुलारेलाल

विषय-सूची

हास्य-रस*

देवियो तथा भलेमानुसगण !

जानता हूँ कि सम्मान का यह अति गंभीर बोझ जो मुझ पर अधाधुंध लाद दिया गया है, उसे हल्का-फुल्का करने का दम मेरे धन्यवाद में नहीं है। फिर भी धन्यवाद ही की गला फाड़कर गोहार लगाते हुए आप सज्जनों की हास्य-प्रिय रुचि की मुक्त कंठ से प्रशंसा करता हूँ। क्योंकि हास्य का आधार विशेषकर उलटी बातों पर निर्भर होता है। और, इसलिये कवियों की सभा में मेरा सभापति बनाया जाना—जो काबिला में सोलहो आने निरक्षर भट्टाचार्य है, एक पद भी बैठालने की सामर्थ्य नहीं रखता—सचमुच हास्य-मर्म की कुछ कम गहरी बात नहीं है। हास्य-प्रेम का ऐसा फड़कता हुआ नमूना देखकर भला यह हास्य का तुच्छ सेवक आपकी आज्ञा को कैसे टाल सकता था ? फ़ौरन् सेवा में हाज़िर होने के लिये सर पर पाँव रखकर दौड़ा हुआ चला आया।

मुबारक

एक तो न-जाने कितनी मुश्किलों से गंभीर रस के उपासक इस हिंदी-संसार ने ज़रा हँसना गँवारा किया है। उस पर इसकी

---

* यह सुंदर लेख लेखक ने द्विवेदी-मेला के काव्य-परिहास-सम्मेलन के सभापति के आसन से, भाषण के रूप में, ५ मई सन् ३३ को, पढ़ा था।—संपादक

इस नई आदत को जारी रखने के लिये यदि आप लोगों की दृष्टि मेरी ही त्रुटियों पर अड़ गई है, तो मैं भी आपकी हँसी पर अपने को न्योछावर कर देने के लिये हथेली पर सर लिए तैयार हूँ। क्योंकि आप लोगों को हँसाना मेरा परम धर्म है, चाहे जिस तरह बन पड़े। उस पर आप-ऐसे ज्ञानियों का मुझ पर हँसना मेरे लिये और भी गौरव की बात है। जितना ही आप लोग हँसेंगे, उतना ही मेरे ऐबों को दूर करके मेरा सर और ऊँचा करेंगे।

क्योंकि हास्य को गंभीरता-पूर्ण पंडिताई बघारनेवाले चाहे कितना ही भ्रष्ट, अश्लील या ओछा बतावें, मगर सच पूछिए, तो बुराई-रूपी पापों के लिये इससे बढ़कर कोई दूसरा गंगाजल नहीं है। यह वह हथियार है, जो बड़े-बड़े मिज़ाजियों के मिज़ाज चुटकियों में ठिकाने कर देता है। यह वह कोड़ा है, जो मनुष्यों को सीधी राह से बहकने नहीं देता। मनुष्य ही नहीं, धर्म और समाज का भी सुधारनेवाला है, तो यही है। मगर हाँ, इसका वश अगर नहीं चलता, तो बस जानवरों पर। क्योंकि इसकी बारीकी समझने के लिये ईश्वर ने उन बेचारों की खोपड़ी में न बुद्धि दी है, और न हँसने के लिये उनके थूथन में कोई कमानी। ये हास्य की बुराई करें, तो करें, क्योंकि 'बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद।' मगर मनुष्य होकर हास्य की निंदा करना स्वयं अपने मनुष्यत्व की निंदा करना है। इससे पंडिताई तो जैसी सिद्ध होती है, वही जानें, मगर यह अलबत्ता पता चल

जाता है कि मुँह सिकोड़े-सिकोड़े हज़रत की खाली समझ ही नहीं सिकुड़ गई, बल्कि हँसनेवाली कमानी सिकुड़कर मुँह भी थूथन बन गया है। फिर बेचारे किस मुँह से हास्य का दम भरें ?

हास्य बुद्धिमान्, ज्ञानी और समझदारों के लिये है, क्योंकि इसका घना संबंध दिमाग़ से है, हृदय से नहीं। जिसकी खोपड़ी में दिमाग़ है, वही इसका मज़ा लूटना जानता है, और वही इसके महत्त्व को समझ सकता है।

कुरुचि-पूर्ण विषय होने से हास्य भद्दा या भोंडा अलबत्ता कहा जा सकता है, मगर इस हालत में भी यह अपना सुधार का सोंटा हाथ से नहीं छोड़ता। क्योंकि इसका तो आधार बुराई, दोष, त्रुटि इत्यादि हैं, जो मानव-जीवन के सुख में खलबली मचाते हैं। जब चोट करता है, तब किसी-न-किसी ऐब ही पर, चाहे वह चरित्र, स्वभाव, व्यवहार, नीति, धर्म, समाज, साहित्य किसी में भी हो। जहाँ प्रत्यक्ष रूप में यह कोई सुधार करता हुआ नहीं भी जान पड़ता, वहाँ और कुछ नहीं, तो कम-से-कम खाली हँसाकर स्वास्थ्य को ही लाभ पहुँचाता है। इसीलिये तपेदिक़ के रोगियों को हास्य-रस की पुस्तकें पढ़ने को दी जाती हैं। मानव-जीवन के लिये यह क्या कम उपकार की बात है ? स्पेन के सरवैंटीज़ ने डानक्यूज़ोट की रचना करके योरप-भर के खुदाई-फ़ौजदारों की हस्ती मिटा दी। इँगलैंड के शेक्सपियर ने अपने शाइलाक द्वारा सूदखोरों की हुलिया बिगाड़ दी। फ्रांस के मौलियर ने अपने पैन्के और

मरक्यूरिए-नामक चरित्रों से तत्त्वज्ञानियों की खिल्ली उड़वाकर अरिस्टाटिल से मतभेद करनेवालों को फाँसी के तख्ते पर से उतार लिया। तब क्यों न संसार एकमत से हास्य का लोहा माने? सुधार की दृष्टि से साहित्य में इसका कितना ऊँचा आसन है, अब कहने की आवश्यकता नहीं है। साहित्य का यही एक अंग है, जहाँ कला के साथ उद्देश खुल्लमखुल्ला अकड़ता हुआ चलता है। यह साहित्य ही का अंग नहीं, बल्कि दर्शन-शास्त्र से भी इसका घना संबंध है। यह दार्शनिकों की भाँति मानव-जीवन पर विचार करके कट्टर समालोचकों की तरह उसके दोषों को ढूँढ़ निकालता है। फिर उनको अपनी कला से स्पष्ट करके हँसी में उड़ा देता है।

साहित्य में उच्च स्थान

सुधार के ही नाते नहीं, बल्कि निज वर्ण्य-विचार से भी इसका स्थान साहित्य में सबसे ऊपर है। क्योंकि नव रसों में हास्य को छोड़कर सभी की छटाएँ अधिकतर भाव पर निर्भर होने के कारण, कुछ-न-कुछ जानवरों तक में पाई जाती हैं। अकेला हास्य ही, दिमाग़ से संबंधित होने के कारण, मनुष्य-मात्र के लिये है। जिस तरह अमृत देवताओं की खास अपनी चीज होने के कारण सकल खाद्य पदार्थों में सबसे उत्तम माना जाता है, उसी तरह हास्य भी और रसों की तुलना में मानव-जाति की निजी संपत्ति होकर सर्वश्रेष्ठ है।

और, कला की दृष्टि से इसकी सर्वश्रेष्ठता कैसी है, यह

इसकी कठिनाइयों से स्वयं ही विदित है। जहाँ और रसों के उपासकों की गणना नहीं हो सकती, वहाँ हास्य-सेवियों को आप उँगलियों पर गिन सकते हैं। यह कला की कठिनाई ही है, जो हास्य को एक दुर्लभ रत्न की भाँति दुष्प्राप्य बनाकर इसका आसन सबसे ऊपर बताती है। यदि रसों में शृंगार, करुण और वीर ही प्रधान माने जाते हैं, तो कुछ अपनी श्रेष्ठता के कारण नहीं, बल्कि इस विचार से कि वे साहित्य के दाल-भात हैं, जो हर जगह बहुतायत से मिल सकते हैं। जहाँ जो खाद्य पदार्थ अधिक मिलता है, वही वहाँ का प्रधान भोजन होता है। किसी प्रेम में पड़े हुए व्यक्ति से प्रेम-पत्र लिखने को कहिए। वह शृंगार-रस की ऐसी धारा बहाने लगेगा, जिसका अंत होना मुश्किल हो जायगा। किसी पीड़ित हृदय से उसके दुखों का हाल पूछिए। आप करुण-रस की वर्षा से पिघल उठेंगे। किसी को जरा अपमानित करके देखिए, वीर-रस की बौछार के आगे भागते ही बन पड़ेगा। मगर किसी को लाख हँसाकर जरा हास्य-रस की एक ही बूँद टपकाने को कहिए; बेचारे की लेखनी और जबान, दोनो फिसफिसाकर रह जायँगी। क्योंकि इसकी धारा बहाने में भाव का सहारा नहीं मिलता। बाहरी तथा भीतरी ज्ञान को अच्छी तरह मथकर उसमें दिमाग़ निचोड़ने से यह रस तैयार होता है।

भाषा तथा अन्य रसों का ज्ञान

संसार तथा मानवीय स्वभाव का ज्ञान तो सभी रसों के

लिये आवश्यक है, परंतु हास्य इसको कितनी मात्रा में चाहता है, यह इसी से समझ लीजिए कि यदि और रसों के लिये ज्ञान-दृष्टि गिद्ध-सी होनी चाहिए, जो अदृष्ट उँचाई से अपने आहार के लिये लाश देख लेती है, तो हास्य को कबूतर की नज़र दरकार है, जो उतनी ही उँचाई से गिद्ध की तरह केवल लाश ही नहीं, बल्कि पड़ा हुआ एक सरसों का दाना भी अपने खाने के लिये देख ले। इतने बढ़े-चढ़े ज्ञान के साथ भाषा में भी हास्य के लिये उतनी ही गहरी पैठ की ज़रूरत है। क्योंकि और रसों में भाषा की लहर अगर सीधी बहती है, तो इसमें एकदम उलटी। जब तक सीधी चाल खूब मँजी हुई न होगी, तब तक उलटी चाल में भला कहाँ सफ़ाई आ सकती है ? इसी प्रकार जब तक किसी बात का वास्तविक ज्ञान न होगा, तब तक उसकी त्रुटियों का पता पाना कब संभव है ?

ज्ञान तथा भाषा को मुट्ठी में कर लेने के अतिरिक्त और रसों पर भी पूर्ण अधिकार होना चाहिए। क्योंकि साहित्य में हास्य पैदल चलने के बदले प्रायः दूसरे ही रसों की खोपड़ी पर सवार होकर विचरता है। शेक्सपियर ने 'मरचेंट ऑफ़ वेनिस' के अदालतवाले दृश्य में शाइलाक की कठोरता द्वारा करुण-रस को सीमा पर पहुँचाकर तब हास्य-रस की झाँकी दिखलाई है। शाइलाक का घबराकर यह कहना कि "एं ! क्या यह भी क़ानून है ?" एकाएक उसे उपहास की मूर्ति

इसीलिये बना देता है कि एक क्षण पहले उसकी छुरा लिए 'वसानियो' के शरीर से मांस काटने की तैयारी ने करुण-रस की नदी बहा रक्खी थी। इसी तरह श्रीतुलसीदासजी ने परशु-राम और लक्ष्मण के संवाद में रौद्र-रस का तमाशा दिखाते हुए हास्य की छींटें दी हैं। मिसाल के तौर पर इसका खेल मैं दो शब्दों में दिखाए देता हूँ। किसी ने अपने बाप की वीरता बघारने में वीर-रस की धारा बहाते हुए यहाँ तक कह डाला कि मेरे बाप खाली हाथ शेर से लड़ पड़े। वैसे ही हास्य ने गर्दन ली, और पूछा—"अच्छा भई, नतीजा क्या हुआ?" जवाब मिला—"शेर उन्हें चीड़-फाड़कर खा गया।" किसी भी रस में मूर्खता तभी दिखाई जा सकती है, या दो विविध रसों के संघर्षण से हास्य तभी उत्पन्न किया जाता है, जब रसों में यथेष्ट प्रवीणता होगी। इतनी ही बात के लिये नहीं, बल्कि इसके लिये तो यह प्रवीणता और भी विशेष रूप से चाहिए कि किस अवसर पर किस रस का प्रयोग कितनी मात्रा में किया जाय, ताकि हास्य भ्रष्ट न हो। क्योंकि हास्य के सभी रस दुश्मन हैं। ज़रा बेक़ाबू होते ही इसकी जड़ खोदकर फेक देते हैं। शृंगार और अद्भुत-रस जो हास्य के मित्र कहे गए हैं, वे भी बस गँव के यार हैं। बागडोर ढीली पड़ते ही ये भी हास्य को पछाड़ देने से बाज़ नहीं आते। किस तरह अन्य रस इस पर आपत्ति ढाते हैं, इसका तमाशा इस छोटी मिसाल में देखिए—यदि कोई मनुष्य किसी हल्की कुर्सी पर बैठकर इस बुरी तरह

अँगड़ाई ले कि वह कुर्सी-समेत लौट जाय, तो लोग बेतहाशा हँस पड़ेंगे। लेकिन यही घटना अगर किसी खुली छत के किनारे हो, तो वहाँ हँसी के बदले एकाएक 'हाय-हाय' मच जायगी। क्योंकि करुणा तथा भय गिरनेवाले के साथ इतनी सहानुभूति की मात्रा बढ़ा देते हैं कि वह उपहास का पात्र होने के बदले दया का पात्र हो जाता है।

जो काम दूध में खटाई करती है, वही हास्य में सहानुभूति। इसका छींटा पड़ते ही हास्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, और सहानुभूति ही अन्य रसों का मुख्य हथियार है। इसका वार बचाते हुए रसों पर हास्य सवारी गाँठता है।

फिर भी सहानुभूति से इसका पिंड नहीं छूटता। रचना में रोचकता लाने के लिये हास्य को इसे आस्तीन में साँप की तरह चुपके से लिए रहना पड़ता है। क्योंकि विना सहानुभूति के उत्कंठा नहीं, और उत्कंठा विना रोचकता नहीं पैदा होती। हास्य-रचना भी अपनी पूरी सफलता तभी दिखलाती है, जब हास्य की आड़ में गुप्त रूप से रोचकता भी उत्कंठा बढ़ाती हुई चलती है। इसलिये साहित्य के अखाड़े में हास्य-लेखनी का काम वैसा ही है, जैसे ज़हरीले साँपों के साथ क्रीड़ा करना। ज़रा आँख झपकी कि लेखनी दूसरे की हँसी उड़ाने के बदले स्वयं ही उपहास-योग्य हो जाती है।

हास्य-कला

हास्य के लिये लेखनी को ज्ञान, भाषा तथा रसों पर पूरा

अधिकार जमा लेने पर हास्य उत्पन्न करनेवाली युक्तियों से उलझना पड़ता है, जिनकी बारीकियाँ सर्वत्र एक समान न होने के कारण विस्तार-पूर्वक नियमों में नहीं बाँधी जा सकतीं। क्योंकि हर जगह रोना तो एक समान है, परंतु हँसना नहीं। जो बातें ज्ञानियों को हँसा सकती हैं, उन पर गँवार नहीं हँस सकते। जो गँवारों की हँसी की बात है, वह ज्ञानियों की मुँह बिचकानेवाली होती है। हिंदोस्तानी युवक के लिये नाचना उतना ही उपहासमय है, जितना विलायती युवकों के लिये नाचना न जानना। फिर भी हास्य के कुछ मुख्य रहस्य ऐसे हैं, जो इसकी थाह में सर्वत्र एक समान पाए जा सकते हैं। उनको जानने के लिये यह विचार करना ज़रूरी है कि हम किसी बात या व्यक्ति पर क्यों हँसते हैं।

पतन

जब कोई व्यक्ति साधारण मनुष्यत्व के दर्जे से अपने कर्मों द्वारा गिर जाता है, तब उसका वह पतन उसे हमारी दृष्टि में नक्कू बनाकर उपहास-योग्य कर देता है। क्योंकि ईश्वर ने मानवीय स्वभाव ऐसा बना रक्खा है कि वह अपने से किसी को भिन्न पाते ही उस पर ठठोली करता है। इस हँसनेवाली भिन्नता की उत्पत्ति पतन से होती है, जिसका कारण गुणों की कमी या अवगुणों की ज्यादती है। अक्सर गुण भी अपनी हद से बढ़कर मनुष्य का ह्रास करा देता है। फिर जिस तरह डॉक्टर इलाज करने के लिये बीमारी को पहले ज़रा उभार

देते हैं, उसी तरह हास्य-लेखनी भी पतन के कारणों को उभार-कर इतना स्पष्ट कर देती है, जितने में स्वाभाविकता भी न भड़के, और रोग सर्व-विदित होकर इससे मानव-जाति का उद्धार हो जाय। हास्य के इस मर्म का पता पहलेपहल अरिस्टाटिल ने लगाया, जिसका नाम अँगरेज़ी तत्त्वज्ञानियों ने Degradation अर्थात् पतन रक्खा। और, मैंने भी आप लोगों के लिये व्याकरण के सूत्र की भाँति इस रहस्य का भी एक सूत्र ढूँढ़ निकाला है। वह क्या है ? "बोल गई माई लॉर्ड कुकड़ूँ कूँ।" इसी सूत्र के अनुसार तुलसीदासजी ने चरित्र तथा परिस्थिति ढालकर परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में परशुराम से कुकड़ूँ कूँ बुलवाई है।

असमानता

मगर अरिस्टाटिल का यह हास्य-मर्म था सही अवश्य, फिर भी काफ़ी न था। क्योंकि उसकी यह छान-बीन ईसामसीह की पैदायश से तीन शताब्दी पहले की है जब हास्य-कला का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, और हास्य-रहस्य की थाह लेने के लिये उसके सामने केवल अरिस्टाफ़ेंस के हास्य नाटक थे। मगर जब इस कला ने और टाँग पसारी, तब कैंट और हैज़्र-लिट आदि तत्त्ववेत्ताओं ने अरिस्टाटिल के बताए हुए पतन पर विचार करके देखा, तो उन्हें अपने दिमाग़ में दो असमान चित्र मिले। यानी एक पतन का, जिस पर विचार किया जा रहा है, और दूसरा उसका, जिससे मिलान करने से उन्हें

पहले चित्र में पतन का ज्ञान होकर उनकी दृष्टि में वह नक़ हो रहा है। इतनी सहायता पाकर इन ज्ञानियों ने जो हास्य को टटोला, तो इसका रहस्य इतना और खुला कि यह दो असमान चित्र, चरित्र, भाव, विचार, बात या शब्द के संघर्षण से उत्पन्न होता है। इसका नाम इन लोगों ने Incon gruity अर्थात् खटकनेवाली असमानता या बेतुकापन रक्खा। इसका भी सूत्र आप लोगों के लिये तैयार है—"पहलुए-हूर में लंगूर, खुदा की क़ुदरत!" इसी नियम पर तुलसीदासजी ने शिवजी की बरात साजी है। देखिए—"कोउ मुख-हीन, विपुल मुख काहू; बिनु पद-कर कोउ बहु-पद-बाहू।"

कठपुतलीपन

हास्य-रस की इतनी थाह लग जाने पर भी इसका अंत न हुआ। इसलिये एम्० बर्गसन साहब ने खोज-खाजकर इसका एक और रहस्य ढूँढ़ निकाला। वह यह कि हास्य के लिये परिस्थिति भी ऐसी होनी चाहिए, जिसमें विपक्षी एकदम चकरघिन्नी हो जायँ। यानी उसके चक्कर में पड़कर वे ऐसे बेबस हो जायँ कि उनकी त्रुटियों का झोंका देकर परिस्थिति जैसा चाहे, वैसा उनसे नाच नचा दे। इसका तमाशा इस छोटी-सी मिसाल में देखिए—एक फ़ौजी सिपाही ने अपने यहाँ दावत की, और तश्त में खाना लेकर ख़ुद ही मेहमानों के सामने परसने गया। वैसे ही किसी मसख़रे ने ज़ोर से 'एटेंशन' का शब्द कह दिया। बस, यह क़वायद का शब्द सुनते ही वह

सिपाही खाने का तश्त मेहमानों की खोपड़ी पर तड़ाक से फेककर एकदम क़वायद करने के ढंग पर खड़ा हो गया, क्योंकि परिस्थिति ने उसे उसकी पुरानी आदत के फंदे में एकाएक ऐसा जकड़ दिया कि वह परवश होकर इसके सिवा और कुछ कर नहीं सकता था। ऐसी परवशता में डालकर हास्य पैदा करने की युक्ति का नाम Automatism है। इसके लिये हिंदी में कोई उपयुक्त शब्द न पाकर मैंने इसका नाम 'कठपुतलीपन' रक्खा है, और इसका कुछ मिलता-जुलता सूत्र भी आपके लिये चुरा लाया हूँ। "पा बदस्ते दीगरे, दस्त बदस्ते दीगरे।" यानी टाँग किसी के हाथ में, तो हाथ किसी के हाथ में।

अब इन दिनों हास्य के कारणों में एक और कारण का भी पता लगा है, जिसे Sense of Iiberation कहते हैं, अर्थात् धर्म-समाज या सभ्यता की नकेल उड़ाकर भागना। इनका प्रयोग 'अररर कबीर' या भँड़ों की घुड़दौड़ अथवा ससुराल की गाली में अक्सर होता है, और कभी-कभी इसकी कुछ उछल-कूद हमारे यहाँ नाट्यशाला में भी कराकर हास्य का उपहास किया जाता है। मगर इसको मैं साहित्य का अंग नहीं मानता। इसका संबंध साहित्य से नहीं, बल्कि भँड़ैती से होने के कारण इस पर आप लोगों का समय नष्ट करना मैं बेकार समझता हूँ।

प्रतिकूलता

उपर्युक्त तीन ही हास्य-रहस्य—अर्थात् 'पतन', 'बेतुकापन'

और 'कठपुतलीपन'—संसार के हास्य-ज्ञानियों के मतानुसार मुख्य हैं। मगर मेरी राय में अब भी कुछ कसर है। यद्यपि वह कसर खींच-खाँचकर इन्हीं तीनों से पूरी हो जाती है, फिर भी साहित्य में उसकी करामात देखते हुए इसे भी मुख्य स्थान देना चाहिए। वह रहस्य है 'आशा तथा अवसर की प्रतिकूलता।' यानी उपयुक्त अवसर पर ठीक उसके विपरीत काम। हम आशा करें कुछ, और बात हो जाय कुछ। जैसे मैं ही बजाय सामने मुँह करने के पीछे, दीवार की ओर, मुँह करके अपना भाषण सुनाने लगूँ, तो यह काररवाई आशा तथा अवसर के विपरीत होकर आप लोगों को विना हँसाए न रहेगी। इसीलिये इसका सूत्र मैंने यह रक्खा है—"जिसे समझे थे खमीरा, वह भसाकू निकला।"

हास्य-कला का प्रयोग

ये चार रहस्य हास्य के वैसे ही चार स्वर हैं, जैसे बाजे का सरगम। फिर भी बाजे की तरह हास्य का स्वर निकालना आसान नहीं है। विना पूरी सावधानी से काम लिए इसका स्वर नहीं बजता। क्योंकि अगर किसी खास मौक़े पर कोई बात या घटना हास्यमय है, तो दूसरे मौक़े पर वह हास्यमय नहीं हो सकती। हम किसी तोंदवाले के बेडौल पेट पर हँसते हैं, मगर जलंधर की बीमारी से वैसे ही फूले हुए पेट पर हँसी नहीं आती। इसलिये हास्य का प्रत्येक स्वर निकालने के लिये परि-स्थिति को पहले अच्छी तरह से तौल लेना लाज़िमी है। उसके

बाद जिस तरह सरगम से सैकड़ों राग-रागिनियाँ उत्पन्न की जाती हैं, उसी तरह इन चारो युक्तियों के समावेश से हास्य का राग अलापा जाता है। वह राग चरित्र, स्वभाव, व्यवहार, वार्तालाप या धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक पहेलियों के ठाट में किस तरह बजता है, यह लेखनी की मौलिकता, योग्यता, सूझ और उपज पर निर्भर है। इसीलिये मैं पहले ही कह चुका हूँ कि हास्य की बारीकियाँ न नियमों में बाँधी जा सकती हैं, और न अनुवाद के जामे में। फिर भी कहने को इनके भी नियम हैं। मगर वे लेखनी को अपने लिये प्रत्येक अखाड़े में स्वयं बनाने पड़ते हैं। जब तक लेखनी में इतना दम न होगा, तब तक वह हास्य की तान ले नहीं सकती। वैसे ही अनुवाद करनेवाली लेखनी भी जब तक मूल-लेखनी की टक्कर की न होगी, तब तक अनुवाद में वह संगीत बजा नहीं सकती। इन्हीं कठिनाइयों के मारे लेखनी इस तरफ़ से भाग खड़ी होती है, और मुँह बिचकाकर कहती है कि अंगूर खट्टे हैं।

हास्य का उद्देश, महत्त्व तथा उसकी कला की कुछ जानकारी कराने में जब आप सज्जनों का इतना अमूल्य समय नष्ट कर चुका, तो लगे हाथों इसकी रही-सही बातें भी इसी तरह दो शब्दों में उगल देना ठीक है, हालाँकि इनको कहने के लिये हज़ारों शब्द भी कम हैं।

हास्य के भेद

अब देखना है कि हास्य के कितने भेद हैं। हमारे यहाँ

इसका भेद-विचार जो स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित किया गया है, वह मुँह की बनावट पर निर्भर होने के कारण साहित्य के तो नहीं, हाँ, महफिल के अलबत्ता काम की चीज़ है, इसलिये इसका भेद बाहरी लक्षणों पर नहीं, बल्कि भीतरी गुणों पर—इसका स्वभाव और प्रभाव, दोनो को देखते हुए—करना चाहिए। स्वभाव के संबंध में इतना ही कहना काफ़ी है कि इसके चार दर्जे हैं—(१) कोमल, (२) उदासीन, (३) कठोर और (४) निर्दयी। इसीलिये कभी यह गुदगुदाता है, कभी चुटकी लेता है, कभी सुई चुभोता है, और कभी एकदम बर्छी ही भोंक देता है। इनको ध्यान में रखकर हास्य के भेद जानने के लिये जब आप हँसने और हँसानेवाले दोनो ही पात्रों पर विचार करेंगे, तब सबसे पहले इसके दो भेद मिलेंगे—(१) अज्ञात हास्य और (२) ज्ञात हास्य।

(१) अज्ञात हास्य

अज्ञात हास्य वह है, जिसमें हँसानेवाला अपनी मूर्खताओं या बेतुकेपन से बिलकुल अज्ञान रहता है, और वह उन्हें अनजाने प्रकट करके लोगों को हँसाता है। इस हास्य की बहार बौड़म, उजड्ड, घमंडी, सनकी, बक्की, झेंपू इत्यादि चरित्र तथा बेतुकी परिस्थिति या घटनाएँ दिखाती हैं। इसे अँगरेज़ी में Ludicrous कहते हैं। इसमें हँसनेवाले का भाव हास्य-पात्र के प्रति उदासीन रहता है, और हँसानेवाला उल्टे हँसनेवाले ही को

बेवक़ूफ़ समझकर दिल में बिगड़ उठता है। जितना ही बिगड़ता है, उतनी ही हँसी बढ़ती है, और दिल में चुटकी-सी लगती है। इसका हाल लैंप के खंभे से टकरानेवाले किसी राही से पूछिए।

(२) ज्ञात हास्य—परिहास

ज्ञात हास्य वह है, जिसमें हँसानेवाला जान-बूझकर हँसाता है। इसके दो अंतर्भेद हैं—(क) परिहास और (ख) उपहास।

परिहास वह है जिसमें हँसानेवाला अपने दोष पर स्वयं भी हँसता है, और अपने साथ दूसरों को भी हँसाता है। इसे अँगरेज़ी में Humour कहते हैं। इसमें हास्य-पात्र कहने को मूर्ख भी होता है, पर वैसा मूर्ख नहीं, जैसा अज्ञात हास्य का पात्र, जो अपने दोष को न जाने। इसमें प्रायः उन दोषों की हँसी उड़ाई जाती है, जिसको धर्म, समाज या सभ्यता ने कुछ-न-कुछ सबके गले मढ़ रक्खा है। या परिस्थिति इतनी भ्रम-पूर्ण होती है, जिसमें पड़कर केवल हास्य-पात्र ही नहीं, बल्कि हर कोई हास्य-पात्र बन सकता है। इसलिये इसमें हँसी एक तरह से अपने ही ऊपर होती है, और इसी कारण इसका स्वभाव कोमल और प्रभाव गुदगुदी की तरह होता है। इसका हास्य-पात्र चिड़चिड़ा नहीं, बल्कि हँसमुख होता है। हास्य का यही एक अंग है, जो नम्रता और मधुरता से कुछ साँचा हुआ रहता है। मगर अज्ञात हास्य और परिहास बारीकियों में जाकर अक्सर ऐसे गुथ जाते हैं कि दोनो के बीच कोई सरहदी लाइन नहीं खींची जा सकती। इस गपड़चौथ का तमाशा इस मिसाल में देखिए—

एक साहब बड़े ज्ञानी बनकर किसी रईस के यहाँ गए, और वहाँ यह कहकर नौकरी की कि जो काम किसी से न हो, वह मैं कर सकता हूँ। कुछ दिनों ख़ूब मौज की। आख़िर, एक दिन वहाँ एक हाथी बिकने आया, जिसका गुण और दोष परखने को ज्ञानी साहब बुलवाए गए। मगर आपने ज़िंदगी में कभी हाथी देखा न था। देखते ही बौखला गए। लगे आँखें फाड़कर उसके चारो तरफ़ दौड़-दौड़कर देखने। बेचनेवाला अपनी जगह पर घबराया कि यह तो बड़े कड़े परखैया से पाला पड़ गया। उसने इन्हें चुपके से अलग ले जाकर कहा—"भइ, मैं तुम्हें पचास रुपए दूँगा, इसमें कोई दोष न निकालो।" ज्ञानीजी बोले—"अरे यार, पचास तुम मुझी से ले लो। मगर यह तो बता दो, इस कंबख़्त का मुँह किधर है, और दुम किधर है।"

इस जगह दोनो ही एक दूसरे की दृष्टि में हास्य-पात्र हो गए। और, दोनो की हँसी केवल दूसरे ही पर नहीं, बल्कि अपने-अपने भ्रम और अज्ञान पर भी है।

उपहास वह है, जिसमें हँसानेवाला अपने पर नहीं, बल्कि दूसरे के दोषों पर आक्षेप करके हँसी पैदा करता है। इसके तीन उपभेद हैं—(अ) विनोद, (आ) व्यंग्य और (इ) कटाक्ष।

उपहास-विनोद

विनोद का अखाड़ा वार्तालाप है, और वह अपना चमत्कार

विशेष कर जवाब में दिखाता है। इसीलिये इसे हाज़िरजवाबी भी कहते हैं। मगर इससे इसका गुण प्रकट नहीं होता। क्योंकि इसमें शब्दों का चुनाव इतना उत्तम होता है, जिसके प्रायः दो आशय निकलते हैं—प्रत्यक्ष और गुप्त। प्रत्यक्ष से यह सवाल का जवाब देता है, और गुप्त से यह आक्षेप करनेवाले के दिल में ऐसी गहरी चुटकी लेता है कि वह निरुत्तर होकर झेंप जाता है। जैसे एक देहाती अपनी स्त्री को साथ लिए कहीं जा रहा था। रास्ते में कई दिल्लगीबाज़ मिल गए, जिनमें एक साहब बड़ी तेज़ तबीयत के थे। यह हज़रत अपनी तेज़ी दिखाने के लिये देहाती से उसकी औरत की ओर इशारा करके पूछ बैठे—"क्यों बे, यह तेरी बहन है?" मगर देहाती भी बड़ा घुटा हुआ था। मुस्किराकर बोला—"जेहिका सरकार बहिन कहिन है, तौन हमार मेहरारू आय।" लोग हँस पड़े, और दिल्लगीबाज़ साहब को कुकड़ूँ कूँ बोलकर वहाँ से भागते ही बन पड़ा। इस प्रकार का उत्तर देकर हास्य उत्पन्न करना ठट्ठा नहीं है। इसके लिये बीरबल का-सा मँजा हुआ दिमाग़ और बिजली की तरह तड़पनेवाली बुद्धि चाहिए। इसके प्रहार करनेवाले का भाव हास्य-पात्र की ओर तनिक कठोर होता है, और इसके शब्दों में ऊँचेपन की झलक होती है। हास्य के इस अंग का नाम अँगरेज़ी में Wit ज़रूर है। फिर भी हमारे यहाँ के विनोद से अँगरेज़ी का Wit कठोरता तथा अपनी सीमा में कुछ बढ़ा-चढ़ा है, जिसके

कारण वह व्यंग्य अर्थात् Irony को भी अपनी हद के भीतर घसीट लेता है।

व्यंग्य और कटाक्ष

व्यंग्य की ख़ूबसूरत छटा यद्यपि विनोद से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, तथापि अपने यहाँ के विनोद और व्यंग्य के विचार से मेरी राय में व्यंग्य को विनोद से पृथक् ही स्थान देना उचित है। मगर हास्य में वही व्यंग्य स्थान पाने का अधिकारी है, जिसका उद्देश सुधार है, वर्ना हास्य-क्षेत्र को व्यंग्य-वर्षा बरसानेवाली ताड़का देवियाँ ऐसा छाप बैठेंगी कि बेचारे सभी हास्य-लेखक मुँह ताकते रह जायँगे। ख़ैर, यही कुशल है कि इनके सौभाग्य से हास्य स्वयं ही सासजी के व्यंग्यों को दूर ही से प्रणाम करता है। इसका पता तुलसीदासजी के दो पदों से चल जायगा—

"कोउ नृप होइ, हमें का हानी; चेरी छाँड़ि न होइबे रानी।"

यह व्यंग्य का फड़कता हुआ नमूना होने पर भी हास्य महोदय पास नहीं फटकते। क्यों ? उनके बैठने के लिये इसमें सुधार का अड्डा ही नहीं है। अब दूसरा नमूना लीजिए—

"कहेउ लखन, मुनि, सुयश तुम्हारा तुमहिं अछत को बरनै पारा ?"

देखिए, इसमें परशुराम की घमंड-रूपी बुराई को दूर करने का उद्देश देखकर हास्य साहब कैसे कमर कसके आ धमके हैं। व्यंग्य में जब यह गुण होता है, तभी हास्य उसे अपने गले लगाता है। मगर ऐसे व्यंग्य को प्रयोग करने के लिये बड़ी

होशियारी और समझदारी चाहिए। क्योंकि इसमें भी शब्दों का चुनाव ऐसा होता है, जिनका आशय शब्दों के मानी से बिलकुल विपरीत होता है, यह अपने शिकार पर पीछे से वार करता है, मगर विनोद की भाँति एकदम छिपकर नहीं। इसके प्रहार में ख़ासी कठोरता होती है, इसीलिये यह हृदय को सुई की तरह छेद देता है।

और जब यह सामने से वार करता है, जैसे—

"कोटि कुलिश-सम बचन तुम्हारा; वृथा धरहु धनु-बान कुठारा।"

तब यह कटाक्ष यानी Satire का निर्दयी रूप धारण करके कलेजे में एकदम बर्छा ही भोंक देता है।

व्यंग्य और कटाक्ष, दोनो का मुख्य अखाड़ा 'कथन' है। चाहे वह बातचीत के रूप में हो या निबंध के।

मगर कटाक्ष का एक भाई और है, जो साधारणतया अपने बाप ही के नाम से पुकारा जाता है, यानी उपहास, अर्थात् नक़ल, मज़हक़ा या Caricature. यह अपनी करामात 'चित्रण' में 'कार्टून' की भाँति बुराइयों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाता है। मगर इस सफ़ाई के साथ, जिसमें असलियत के पहचानने में धोका न हो।

हास्य की वंशावली तो सरसरी तौर पर किसी तरह समाप्त हुई। यद्यपि हमारे यहाँ इसका भेद-विधान आज तक इस तरह नहीं हुआ है, तथापि इसके भेदों की नामावली से यह पता ज़रूर चलता है कि अब हास्य इतना शक्तिशाली हो गया है

कि इसने अपना बटवारा स्वयं करके अपने भेदों के भाव इन नामों में कूट-कूटकर भर दिए हैं। इन्हें कोई अगर न देखे, तो हास्य बेचारे का क्या दोष ?

ऐतिहासिक अंग

इसी सिलसिले में इसके ऐतिहासिक अंग पर भी एक फिसलती हुई निगाह डाल देना उचित है। घबराइए नहीं, इसका भी झगड़ा चुटकियों में समाप्त हुआ जाता है। क्योंकि आप लोगों के समय के सौभाग्य से इसका सारा इतिहास हमारे यहाँ एक शब्द में है। वह भी एक अक्षरवाला। क्या ? वह है शब्द 'भी'। जैसे किसी को अपने सपूतों के साथ अपने कुपूत का भी ज़िक्र करना पड़ जाता है, तो वह असमंजस में पड़कर कहता है—"हाँ, वह भी मेरा लड़का है।" वैसे ही हमारे साहित्यिक हास्य का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"हास्य भी साहित्य का एक अंग है।" यह संकोच तथा अपमान-सूचक 'भी' साफ़ बता रहा है कि हास्य के इतिहास का भंडार खाली है। और, यह हिंदी के लिये एक ऐसी नई चीज़ है, जिसे दिल खोलकर अपनाने में हिंदोस्तानी दिमाग़ भड़क रहा है। इस अभाव का सबूत हमारे यहाँ के हास्य-रस के इस वर्णन से भी मिलता है। यानी—

"भाई जाको हास है, वहै हास्य-रस जानि ;
तहँ कुरूप कुदब कहब, कछु विभाव ते मानि।"

बस, इसके बाद वर्णन में हँसने के विविध ढंगों पर हास्य

का भेद कर और हर्ष तथा चपलता इसका संचारी भाव बताकर बेगार टाल दिया गया है। इसमें हास्य की असलियत दो ही चीज़ों में बताई गई है—अर्थात् 'कुरूप और कूदब कहब,' और मज़ा यह कि दोनो ही गड़बड़। क्योंकि हास्य न कुरूपता में है और न अनुचित वाक्य में। किस तरह उत्पन्न होता है, आप देख ही चुके हैं। तब यह वर्णन ऐसा भ्रम-पूर्ण क्यों हुआ? वही जवाब कि इतिहास का भंडार ख़ाली होने के कारण हास्य की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करने के लिये काफ़ी सामग्री न थी; हिंदी ही में नहीं, बल्कि संस्कृत में भी—जिसके पद-चिह्नों पर चलना हिंदी गौरव समझती आई है—इस रस का जो आभास नाटकों में मिला है, वह ऐतिहासिक दृष्टि में नहीं के बराबर है। क्योंकि इसका प्रयोग नाटककारों ने केवल गंभीर रस को झलकाने के उद्देश से, मामूली अस्तर की भाँति, किया है। इसमें काल का पूर्ण विकास कहाँ हो सकता था? विदूषक का चरित्र एक बना हुआ मसख़रा होने के कारण वह अपने हास्य में स्वाभाविकता भला कैसे ला सकता था? ज्ञान, तत्त्व और विद्वत्ता से भरी हुई होने पर भी संस्कृत आख़िर हास्य को महत्त्व क्यों नहीं दे सकी? इसके दो ख़ास कारण थे—एक तो यह कि हास्य का मुख्य अखाड़ा पद्य की अपेक्षा गद्य है, और उन दिनों छापेख़ाने न होने के कारण पद्य ही का अधिक प्रचार था, जिसे रट लेने में आसानी थी। और, दूसरा कारण यह था

कि वह हास्य का युग भी न था। साहित्य में हास्य अपना चमत्कार विशेष रूप से तभी दिखलाता है, जब उन्नति के मार्ग में रोड़े अटककर दोष ढूँढ़ने के लिये आँखें खोल देते हैं। और, वह समय देश के उत्थान का था। समाज तथा रहन-सहन समय के अनुकूल होने के कारण पूर्ण रूप से स्वस्थ थे। ऐसे समय में मनुष्य लक्ष्य की ओर देखता हुआ बहते हुए पानी की तरह बस आगे ही बढ़ना जानता है, उसे रुककर अपने ऊपर दृष्टिपात करने का अवसर नहीं मिलता। तब हास्य को क्या पड़ी थी कि ऐसे समय में नाहक़ कष्ट उठाकर अपना दबदबा दिखाता ?

मगर हिंदीवालों को इस अभाव के मतलब कुछ और ही दिखाई पड़े। वे समझे, हास्य शायद साहित्यिक दृष्टि में एक ओछी चीज़ है, तभी तो संस्कृत ने इसे महत्त्व नहीं दिया। फिर क्या था, बिल्ली के भाग्य से छींका टूटा। हमारे साहित्यिकों की बन आई। लगे हास्य को निरादर की दृष्टि से देखने। क्योंकि इसके अपमान ही पर उनका मान भी था। यद्यपि संस्कृत के विद्वानों ने मानने को हास्य को साहित्य का आवश्यकीय अंग माना है, मगर यहाँ तो अपनी पगड़ी की लाज रखनी थी, उनकी बात की सुनवाई कैसे होती, जिसका समर्थन पूरे तौर से कार्य-रूप में नहीं किया गया था ? तब हास्य कैसे पनपता, और रस-वर्णन को इसकी वास्तविक थाह लेने के लिये इसकी यथेष्ट सामग्री कहाँ मिलती ? जो इने-गिने नमूने पुरानी

कविताओं में मिलते भी हैं, उनमें से अधिकांश तो स्वयं ही हँसना जानते हैं, दूसरों को हँसाना नहीं। लेखनी जहाँ स्वयं हँस पड़ी, वहाँ वह दूसरों को हँसा चुकी। हाँ, श्रीतुलसी-दासजी ने जहाँ कहीं भी हास्य की छींटें दी हैं, वे अलबत्ता कील-काँटे से दुरुस्त होकर सराहनीय हैं। क्यों न हो? अगर अँगरेज़ी-साहित्य का गौरव शेक्सपियर पर निर्भर है, तो भार-तीय साहित्य की लाज हमारे तुलसीदासजी ने रक्खी है, जिन्होंने हर रंग में वही कमाल दिखाया है। मैं तो यही कहूँगा कि इन्हीं की कृपा-दृष्टि से हास्य का स्थान नवरसों में रह गया, नहीं तो हमारे साहित्यिक उसे वहाँ से अवश्य ढकेल देते।

हिंदी की खड़ी बोली का जब प्रचार हुआ, तो भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इसकी ओर कुछ ध्यान दिया, और पं० शिवनाथ शर्मा ने भी अपने 'आनंद' में इसकी चर्चा छेड़ी। फिर भी हास्य का अनादर कम न हुआ, जिसके कारण जनता के हृदय तक इसकी पहुँच न हो सकी। उस समय भी यह किन बुरी निगाहों से देखा जाता था, इसको मेरे सिवा कोई दूसरा बता नहीं सकता। संपादकगण हास्य-रचना इस डर से न छूते थे कि कहीं इसकी छूत से हमारी पंडिताई में कलंक न लग जाय। उस पर हास्य की पक्की बुनियाद डालने के लिये भाषा की कायापलट भी दरकार थी, जिसको देखते ही साहित्यिकों को बुख़ार आता था। मगर ये लोग कायँ-कायँ करते ही रह गए, और हास्य ने अपना डंका पीटकर जनता को अपने हाथ में ले ही लिया।

फिर तो 'मतवाला' आदि हास्य-पत्र निकलकर इसकी सेवा में पहुँच गए, और कई प्रतिभाशाली लेखकों ने भी इसकी उपासना शुरू कर दी। आज यह देखकर मुझे बड़ा गर्व हो रहा है कि जिस हिंदी में हास्य की कुछ पूछ गछ न थी, वही हिंदी अब अपने हास्य के बल भारत तो क्या, संसार के साहित्य-क्षेत्र में बाज़ी मारने को ताल ठोंककर तैयार है। यद्यपि प्रकाशकों की उदासीनता तथा लेखकों के अपने पेट के लिये बहुधंधी होने के कारण इसके भंडार में अभी यथेष्ट सामग्री नहीं हो सकी है, तथापि जो कुछ है, और उसमें भी जिन पुस्तकों को हमारे साहित्यिक ओछा, अश्लील या अनुवादित बताते हैं, वही संसार के अच्छे-अच्छे हास्य क्षेत्र में हिंदी का सिर ऊँचा रखने के लिये काफ़ी है। हमें उनका महत्त्व क्यों नहीं दिखाई पड़ता? इसलिये कि घर की मुर्ग़ी साग-बराबर होती है।

यह देखकर मेरा कलेजा और भी बाँसों उछल रहा है कि हास्य ने अपने प्रचार के साथ भाषा का कलेवर भी अब ऐसा बदल दिया है कि हिंदी देश के कोने-कोने में पहुँचकर राष्ट्र-भाषा होने की आज अटल अधिकारिणी हो रही है। इसका प्रमाण इसी से साफ़ ज़ाहिर है कि इस संबंध में गत नवंबर-मास में जो मैंने मुँह खोलकर पटने में आवाज़ लगाई थी, उसकी ध्वनि इस दफ़े अखिल भारतवर्षीय साहित्य-सम्मेलन में भी जाकर कुछ सुनाई पड़ी है। अब भविष्य में हिंदी को हास्य-

से कितनी आशाएँ हो सकती हैं, यह मैं आप सज्जनों के अनुमान पर छोड़ता हूँ।

समालोचक और अश्लीलता

रहा हास्य पर कुछ साहित्यिकों का दोष लगाना, वह तो खिसियानी बिल्ली का खंभा नोचना या तोते का राम-नाम जपना है। क्योंकि यहाँ 'आह' भी कीजिए, तो उसमें भी इन्हें वासना ही दिखाई पड़ती है, तब हद है।

वासना पर संसार की स्थिति निर्भर है। वासना के बल पर साहस, पराक्रम, पौरुष और पुरुषार्थ है, वर्ना सब ठन-ठन गोपाल है। और, उसी वासना से इतनी भड़क! दुर्भाग्य ने तो भारतवासियों को नामर्द बना ही रक्खा है। अब क्या प्रकृति भी इन्हें एक सिरे से एकदम शिखंडी ही बना दे, तब हमारे साहित्यिकों को संतोष होगा? अगर इसी में सभ्यता है, तो भाई, ऐसी सभ्यता उन्हीं को मुबारक। ईश्वर की कृपा से स्त्री-जाति ऐसी चरित्र-हीना नहीं होती, जैसा ये लोग साबित करना चाहते हैं कि साहित्य में वासना की आँच देखते ही भ्रष्ट हो जाय, वर्ना संस्कृत का रंभा-शुक-संवाद और भर्तृहरि का 'शृंगार-शतक' अब तक जीवित न रहते। यह रोक-टोक आखिर इन्ही स्त्रियों ही के खयाल से तो है। मानो हमारी स्त्रियाँ स्त्रियाँ नहीं, बल्कि उनके मतानुसार जानवरों से भी गई-गुज़री हैं। मगर यह खबर नहीं कि हमारी देवियाँ हैं, जो अपने अलौकिक चरित्र-बल से इस हीन दशा में भी हमारा सर सारे संसार

में ऊँचा किए हुए हैं। और, उन्हीं की शान में इतना बड़ा अपमान !

अश्लीलता कहाँ होती है, यह भी, मुँहफट होने के कारण, मैं साफ़ बताए देता हूँ—पलंग, टट्टीघर या गुसलखाने में। बस, इन स्थानों को छोड़कर लेखनी को हर जगह जाने का पूर्ण अधिकार है। अश्लीलता या वासना के नाम पर इसकी रोक-टोक करना साहित्य में ज्ञान और तत्त्व का द्वार बंद करना है, मनोविज्ञान का गला घोटना है, प्रकृति और स्वाभाविकता का कलेजा मसलना है, कला के पैरों में बेड़ियाँ डालना है, जाति को मुर्दा बनाना है, और सबसे बड़ी बात यह कि अपनी पूज्य देवियों के चरित्र-बल में कलंक लगाना है। आप लोग भी कहते होंगे कि किस बक्की से पाला पड़ गया। कविता में अपनी अयोग्यता दिखाने की आड़ में यह 'हास्य-रस' की सारी कहानी सुना गया। हाँ, अपराध तो हो गया, मगर भगवान, अपनी त्रुटियों पर आपको हँसने का अवसर देने के पहले मुझे आपकी हँसी की महिमा और मूल्य संसार को बता देना भी ज़रूरी था, ताकि आपकी हँसी बेकार न जाय। अब आप जितना चाहें, मुझ पर हँस लें, क्योंकि काव्य-परिहास सुनाने के बदले मैं स्वयं ही इसका सचित्र उदाहरण बना हुआ सामने खड़ा इसका तमाशा दिखा रहा हूँ। देख लीजिए। कहाँ मृदुभाषी कविगण और कहाँ यह बेहूदा बकनेवाला मुँहफट। रेशम में टाट का पैबंद ! कोई तुक ही नहीं। इसके आगे आजकल की

भिन्नतुकांत कविता का बेतुकापन उछल पड़ा है, तो काव्य-परिहास का अनमेल मेल भी चौंक उठा है।

ख़ैर, आपकी आज्ञा पालन के लिये मैंने इसके लिखने की भी बड़ी कोशिश की। जब कुछ वश न चला, क्योंकि बूढ़ा तोता लाख पढ़ाने से भी कहीं राम-नाम पढ़ता है, तब अपने 'साहित्य के सपूत'-नामक नाटक के प्रधान पात्र श्रीमान साहित्यानंदजी के पास इस आशा से दौड़ा कि शायद उनसे माँगे कुछ भीख पा जाऊँ, तो उसे सुदामा के एक मुट्ठी चावल की तरह लेकर मैं भी आपकी सेवा में हाजिर होऊँ। मगर जिस समय मैं उनके यहाँ पहुँचा, उस समय वह घर ही में साहित्य का प्रचार कर रहे थे। किस तरह ? आप भी सुन लें—

भाषा और आधुनिक दशा

(साहित्य का सपूत—अंक १, दृश्य २)

साहित्यानंद—(हाथ में किताब लिए हुए अपनी स्त्री सरला से) "देखो, जब मैं तुम्हें प्रिये कहूँ, तब तुम मुझे नाथ कहो। जब प्राणप्यारी कहूँ, तब प्राणेश्वर कहो। क्योंकि तुम मेरी स्त्री हो। समझी ? अच्छा, कहता हूँ—प्राणप्यारी . .अब तुम अपना-वाला कहो। हाँ हाँ, बोलो-बोलो। उल्लू की तरह ताकती क्या हो, उहुँक-उहुँक, उलूक के समान अवलोकती क्या हो ?"

सरला—"तुम्हें आज हो क्या गया है ?"

साहित्या०—"धत् तेरे की ! फिर वही बात ? कुत्ते की दुम, उहुँक, पूँछ, हाँ पूँछ, कितनी ही सीधी करो, परंतु फिर टेढ़ी-

की-टेढ़ी। सहस्र ढंग से तो समझा चुका। पुस्तक से पति-पत्नी-संवाद का उदाहरण भी सुनाया, उस पर भी तुम नहीं समझतीं, तो अब क्या करूँ ?"

सरला—"अपना मुँह पीटो, और मैं क्या बताऊँ ? आखिर तुम कहते क्या हो ?"

साहित्या०—"तुम्हारा सर।"

सरला—"जाओ, न कहो। मेरा क्या ?"

(जाने लगती है)

साहित्या०—"अरे कहाँ चलीं ? ठहरो-ठहरो, फिर कहता हूँ।"

सरला—(रुककर) "जो कुछ कहना हो, आदमी की तरह कहो। नहीं, अगर बेहूदा बकोगे, तो—"

साहित्या०—"मैं बेहूदा बक रहा हूँ ?"

सरला—"और नहीं तो क्या कर रहे हो ? बुड्ढे हो गए, और दिन-दहाड़े प्राणप्यारी कहने चले हैं। शर्म नहीं मालूम होती ? छिः ! ऐसी मस्ती पर झाड़ू की मार। लड़की की शादी हो गई होती, तो अब तक दो-चार बच्चों के नाना कहलाते, मगर अब भी अपने को छैला ही समझते हैं। मिज़ाज से गुंडई न गई। राम-राम ! जाओ, चुल्लू-भर पानी में डूब मरो। खड़े-खड़े घूरते क्या हो ?"

साहित्या०—"चुल्लू-भर पानी में तू डूब मर। उहुँक, पानी नहीं, जल। हाँ, अंजुल-भर जल में तू निमग्न हो जा। जो साहि-

त्यिक वार्तालाप समझने की बुद्धि नहीं रखती। अरी मूर्खा, जो उदाहरण मैंने पुस्तक से सुनाया था, वह ऐसे ही पति-पत्नी के संवाद का है, जिनकी पुत्री युवावस्था में पदार्पण कर चुकी है, और इस हेतु वे उसके विवाह की चिंता में निमग्न होकर परस्पर परामर्श कर रहे हैं।"

सरला—"हाथ जोड़ती हूँ। घर में श्लोक न पढ़ा करो। अगर संस्कृत बूँकने का बड़ा शौक़ हो, तो किसी पंडित को बुलवा लो, जो तुम्हें मुँहतोड़ जवाब भी दे सके, मेरे सामने यह भड़-भूँजे का सा भाड़ नाहक़ ही तो भड़भड़ाने लगे।"

साहित्या०—"एं! यह भाड़ की भड़भड़ाहट है?"

सरला—"बेशक! जो बोली समझ में न आए, और जो न कहीं बोली जाय, वह भाड़ की भड़भड़ाहट नहीं, तो क्या है?"

साहित्या०—"वाह-वाह! वाह री तेरी बुद्धि! अरी मूर्खा, यही तो सभ्य भाषा है, जिसे हम लोग साहित्य कहते हैं। हमारे-ऐसे उच्च कोटि के लेखकगण पुस्तकों में इसी का प्रयोग करते और इसी में पात्रों का वार्तालाप दर्शाते हैं। न विश्वास हो, तो किताब—उहुँक—पुस्तक, हाँ पुस्तक का लिखा सुनाता हूँ। इसका रसास्वादन करके तू अपने जीवन को कृतार्थ कर ले, और इसी प्रकार तू भी मुझसे बोलने का उद्योग कर। देख, तुझसे भी वृद्धा पत्नी अपने प्राणप्यारे पति से कितनी मधुर, सभ्य और सरस भाषा में कहती है, कान खोलकर सुन—हे प्राणेश्वर, आज आप इतने मलिन-मुख क्यों प्रतीत होते हैं?

इसका कारण शीघ्र ही प्राणनाथ अपने मुखारविंद से प्रकट करके मेरे अंतःकरण की व्याकुलता निवारण कीजिए। क्यों नाथ ? क्या कन्या के लिये कोई उचित वर कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ ?"

सरला—"कौन निगोड़ी ऐसा बोलती है, बताओ तो सही। उसके मुँह पर गिनकर सात झाड़ मारूँ।"

साहित्या०—"अरे-अरे ! यह क्या ? ये आदर्श-चरित्र हैं, देवियाँ हैं, इनको तू ऐसा कहती है ?"

सरला—"ऐसी देवी को चूल्हे में झोंक दूँ। कौन ऐसी बेहया है, जो मुँह के सामने प्राणनाथ कहेगी ? वह भी ऐसी बातें करते वक्त ? राम राम !"

साहित्या०—"तो क्या इसे तू झूठ समझती है ? किताब—उहुँक, पुस्तक का लिखा भी नहीं मानती ?"

सरला—"तुम्हारी किताब की ऐसी तैसी, और लिखनेवाले को क्या कहूँ ?"

* * *

मामला गर्म देखते ही मैं चुपके से खिसका, क्योंकि यह अवसर उनसे 'काव्य-परिहास' लिखाने का न था।

(साहित्य का सपूत—अंक २, दृश्य ३)

खैर, दूसरे दिन आप 'पार्क' में अपने नौकर टेसुआ को साथ लिए टहलते हुए दिखाई पड़े। उसे आप एक जगह दूर खड़ा करके कह रहे थे—

साहित्या०—"अच्छा, वहीं रह। अब मैं अपनी कविता का पाठ करता हूँ। देख, सुनाई पड़ती है या नहीं? रबड़ छंद है—रबड़। इसके पद रबड़ की भाँति जितना चाहो, उतना बढ़ जाते हैं। सुन—"

कविता का नाम सुनते ही मैं भी नज़दीक बढ़ गया। आपने ऊँचे स्वर में अलापना शुरू किया—

साहित्या०—"प्रेम सुंदरी।

प्रेम-सुमन की माला पहने-
स्नेह सुरभि के माते
अलि चंचल गुंजार रहे।
मत्त तरंगिणि!
वृंत हीन दिक्काल विक्रीड़ित
तरलित तुंग तमाल विचुंबित
नभ वन-शिखर-विहारिणि!
कब आओगी?"

बाप रे बाप! सुनते ही छक्के छूट गए। मैं उनसे इसके मानी पूछनेवाला था कि टेसुआ ने दौड़कर खुद ही इसका मतलब पूछा। तब आप कहने लगे—

"मतलब? आहा हा हा! अरे मूर्ख, मतलब भी उहुँक—अर्थ भी भला हम-सरीखे कवि-सम्राटों की कविता का कहीं समझ में आ सकता है? वह कविता ही क्या, जिसका अर्थ समझ में आ जाय? यदि कविता सभी की समझ में आ जाय,

तब उसके अर्थ-गौरव का भला महत्त्व क्या रह जायगा! इसको केवल साहित्यिक व्यक्तिगण समझते हैं।"

क्यों नहीं? आप लोगों के लिये उनसे 'काव्य-परिहास' लिखाने की मेरी आशा पर पानी फिर गया, क्योंकि मैं तो समझ पाता नहीं और वह उसमें गालियाँ लिख देते, तो यहाँ मेरी कौन-सी गति बनती? अपनी असफलता पर स्वयं मुझे बड़ी ग्लानि है। मगर क्या करूँ? अंत में आपका अमूल्य समय नष्ट करने के लिये वारंवार क्षमा माँगता हुआ, और मेरी बकवास को धैर्य-पूर्वक सुनने के लिये कोटिशः धन्यवाद देता हुआ, अब दंडवत् करता हूँ।

[२*]

हास्य का महत्त्व

हास्य-रस के प्रेमियो और गुणग्राहको !

परिहास-सम्मेलन और कलकत्ते में ! जो कुछ ही दिनों पहले देश की राजधानी था, और व्यवसाय के नाते इसकी अब भी वही धाक है। जहाँ के लोगों को हँसना तो अलग रहा, कार-बार के मारे दम मारने की फ़ुर्सत नहीं। हाँ, वहीं और परि-हास-सम्मेलन ! निस्संदेह यह हास्य-रस की आशातीत उन्नति और आप गुणग्राहकों द्वारा इसके वास्तविक आदर का फल है। हास्य के प्रति यह प्रेम और यह सत्कार देखकर क्यों न उसके इस सेवक का कलेजा बाँसों उछले। और, उसके संपूर्ण हृदय ही से नहीं, बल्कि रोम-रोम से आप गुणग्राहकों की सेवा में धन्यवाद की ध्वनि गूँज उठे ?

जिस तरह सौंदर्य लाख चित्ताकर्षक होने पर भी अंधों के आगे मिट्टी है, उसी तरह हास्य-रस भी स्वयं चाहे कितना ही महत्त्वकारी हो, मगर उसके महत्त्व के आधार आप ही गुण-

*कलकत्ते मे ८ ऑक्टोबर, १९३२ को होनेवाले परिहास-सम्मेलन के सभापति का भाषण।—संपादक

ग्राहक हैं। आप ही के ज्ञान, समझ, आदर और प्रतिष्ठा के बल पर आज इसे यह दिन नसीब हुआ है। साल-भर के भीतर ही बिहार, यू० पी० और बंगाल की राजधानियों में ताबड़तोड़ इसके सम्मेलनों का होना साफ़ बता रहा है कि हमारे साहित्य में इसका कितना बोलबाला है। गत नवंबर-मास में पटने में हास्य-रस-सम्मेलन, गत मई-मास में इलाहाबाद में काव्य-परिहास-सम्मेलन और आज कलकत्ते में परिहास-सम्मेलन। अब इससे ज्यादा भला कोई रस अपना आधिपत्य और क्या दिखा सकता है?

यह वही रस है, जिससे जब हिंदी भड़कती थी, तब हिंदी की ओर कोई आँख उठाकर देखना भी गँवारा नहीं करता था, क्योंकि विना नमक का भोजन दो कौड़ी का। वही हाल हास्य-विहीन साहित्य का है। और, आज वही रस है, जिसके बल पर हमारी हिंदी इतराई फिरती है। जामे में फूली नहीं समाती।

यद्यपि रोने को तो रोनेवाले अब भी हमारे यहाँ हास्य के नाम पर रोते हैं, वह भी रोते हैं, जो साहित्य के ज्ञानी कहलाने का दम भरते हैं। उनकी तक़दीर में रोना ही बदा है, तब हास्य बेचारा क्या करे? मगर यह रोना—अगर आप गहरी नज़र डालकर देखेंगे, तो पता चलेगा—कहीं जलन के मारे है, कहीं स्वार्थ-वश, कहीं ज्ञानी बनने के ढोंग में, तो कहीं अज्ञान और भ्रम-वश।

इन्हीं विघ्न-बाधाओं को हटाकर हास्य का वास्तविक मर्म, महत्त्व, कला और उद्देश का प्रचार हास्य-सम्मेलनों का कर्तव्य है, ताकि उसकी उन्नति के मार्ग में रुकावट न पड़ने पाए, और हास्य-सेवी स्वार्थियों और ढोंगियों के वश में पड़कर पथ-भ्रष्ट न हों।

यों तो जो कुछ मुझे हास्य-रस पर कहना था, वह संक्षेप में मैं प्रयाग के द्विवेदी-मेला के अवसर पर कह चुका, अब उन्हीं बातों को फिर दुहराना उचित नहीं, किंतु बिना उनके कहे आगे बढ़ना भी असंभव है। उस पर मुसीबत यह कि यह सम्मेलन इतनी जल्दी में और ऐसे काम धंधों के दिनों में रक्खा गया है कि अवकाशाभाव के कारण इस विषय का मैं उचित सत्कार नहीं कर सकता। खैर, फिर भी इस पर कुछ-न-कुछ नवीन प्रकाश डालकर आप सज्जनों का समय नष्ट करने में चूकूँगा नहीं।

हास्य-रस पर भ्रम

सबसे पहले हास्य के प्रति जो भ्रम फैले हुए हैं, जिनके मारे उनका वास्तविक आदर नहीं होने पाता, उनके कारणों को बताकर उनको दूर कर देना बहुत ज़रूरी है। हास्य का महत्त्व गंभीर रस की तुलना में बहुत हल्का प्रतीत होता है, क्योंकि अव्वल तो गंभीर रस अपने को पुजवाने के लिये भावों की दोहाई मचाते हैं, जो दोष देखना नहीं जानते, और हास्य अपने समझे जाने के लिये दिमाग़ की गोहार लगाता

है, जिससे त्रुटियां को छिपाना बिलकुल असंभव है। उसमें थोड़े-बहुत ऐबों का रह जाना भी कोई आपत्ति नहीं डालता। मगर इसमें ज़रा-सी भी चूक 'सब गुड़ गोबर' कर देती है। वह आसानी से हृदय को मुग्ध करके वाहवाही लूट ले जाता है, और यह मुश्किल से दिमाग़ को रिझाकर भी हँसी में उड़ा दिया जाता है।

दूसरा भ्रम जो हास्य पर छाया हुआ है, यह है कि इसकी उपयोगिता प्रत्यक्ष नहीं होती, इसकी शिक्षा गंभीर रस की शिक्षा की भाँति स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती, और न यह उसकी तरह अच्छाई दिखाकर उसका अनुकरण करने को बताता है, क्योंकि इसका उद्देश्य ही दूसरा है। यह उपदेशक नहीं, बल्कि सुधारक है। इसका काम बुराइयां की हुलिया बिगाड़कर एकदम विनाश कर देना है। उपदेशक को उपदेश देने से मतलब ; प्रभाव पड़े या न पड़े, उसकी बला से! मगर सुधारक का काम प्रभाव ही से है। गंभीर रस उपदेशक होने के कारण गुणां की धूम मचाता है, इसलिये वह आदरणीय जान पड़ता है। हास्य-रस में अवगुणों की धज्जियाँ उड़ाई जाती हैं, इसलिये यह नासमझां को ओछा दिखाई पड़ता है।

तीसरा भ्रम चरित्रों ने पैदा कर रक्खा है। हास्य-रस का नायक गंभीर रस के नायकों की भाँति संुदर, सुडौल और गुणों की खान नहीं, बल्कि ऐबों का पुतला होता है। इस-लिये जो ज्ञानी महोदय यह चुटकी लेते हैं कि हज़रत हास्य-

रस भी इन दिनों ख़ासे विलायती उल्लू का नमूना पेश करते हैं, वह अनजाने हिंदी में हास्य-रस की पूरी सफलता का डंका पीट रहे हैं। जादू वह, जो सर पर चढ़कर बोले, क्योंकि हास्य अपना नमूना 'उल्लू, गद्हा, पाजी' के रूप में नहीं, तो क्या 'राम, भरत और हरिश्चंद्र' के रूप में दिखाएगा ? तब वह हँसी क्या ख़ाक उड़ाएगा ? ऐबों का सुधार क्या अपना सर करेगा ? इन्हीं गुणी और ऐबी, ज्ञानी और मूर्ख-चरित्रों के संपर्क से गंभीर रस उत्तम, तो हास्य रस घटिया मालूम होता है।

चौथा भ्रम सहानुभूति और आदर के अभाव के कारण फैला हुआ है, क्योंकि हास्य-चरित्र गंभीर रस के नायकों की भाँति हमारी सहानुभूति और आदर नहीं आकर्षित करता। अगर करे, तो उसका सारा खेल ही चौपट हो जाय; उसके उद्देश्य का ख़ून हो जाय। जिसके प्रति हमारी सहानुभूति होगी, जो हमारे आदर का पात्र होगा, उस पर भला हम किस दिल से हँस सकते हैं ? इस प्रतिप्रा के प्रभाव से गंभीर रस ऊँचा, तो हास्य-रस नीचा दिखाई पड़ता है।

जब हास्य-रस ऐसे भ्रमों के बीच में पड़ा हुआ है, तब अज्ञानियों के आगे इसकी मिट्टी पलीत क्यों न हो ? हँसाने को हास्य कितना ही हँसाए, मगर इसके महत्त्व को समझना ज्ञानी और कलाविदों का ही काम है।

सुधार का ढंग

अब यह देखना है कि हास्य-रस अपने सुधार का प्रभाव

किस ढंग से डालता है। सुधारक होने के कारण इसका सरोकार बुराइयों से रहता है। दोष ही इसके दाल-भात हैं, चाहे वे जिस रूप में हों। मानव-जीवन के रहन-सहन, रस्म-रिवाज, आचार-विचार इत्यादि में जब समय अड़चन डालने लगता है, तभी यह उसको दूर करने के लिये डंडा लेकर आता है, और मार-मारकर उन बुराइयों से बचने के लिये हमारी आँखें खोलता है। यही उसका उद्देश्य है, जिसका पूरा प्रभाव वह डाल देता है, तब हमें हँसाता है। विना प्रभाव पड़े हँसी नहीं आती। हँसी का उत्पन्न होना ही इस बात का प्रमाण है कि हम पर प्रभाव पड़ गया। हमारी ज्ञान-दृष्टि खुल गई, और हम सतर्क हो गए। और, मज़ा यह कि यह प्रभाव इस सफ़ाई से हम पर अपना काम कर जाता है कि हमें उसकी ज़रा भी ख़बर नहीं होती। इसको मामूली-से-मामूली मिसालों में देखिए। जैसे यह शिक्षा देना है कि "जहाँ बैठो, सँभलकर बैठो।" गंभीर रस इसको उसी रूप में कहेगा, जिसे सुनकर हम दिल में अवश्य कहेंगे कि बड़ी भली बात कहता है। मगर हम इसका पालन करेंगे या नहीं, यह निश्चय नहीं है। परंतु हास्य-रस का उद्देश्य तो पालन कराना है, अपनी नेकनामी लेना नहीं। इसलिये लापरवाही देखते ही यह एक दफ़े पीछे से कुर्सी खींचकर असावधानी का मज़ा चखा देगा। गिरनेवाले के साथ हँसनेवाले भी हमेशा के लिये सतर्क हो जायँगे, और उन्हें यह भी पता न चलेगा कि हम पर इसका क्या प्रभाव पड़ा। समझने को

वे इसे बेहूदापन भी समझेंगे, मगर वे जीते-जी फिर ऐसी भूल में नहीं पड़ सकते, क्योंकि यह असावधानी ही दोष बनकर जब अच्छी तरह दिमाग़ में खटकी है, तभी हँसी उभरी है ; वर्ना गिरने को तो आदमी मूर्च्छित होकर भी गिरता है, मगर तब हँसी नहीं आती। हास्य के प्रभाव पर शक करता हुआ कोई पूछ सकता है कि जब हास्य बेडौल मुटापा दिखाकर हँसाता है, तब वह भला किस बात के सुधार का प्रचार करता है ? मैं पहले ही कह चुका हूँ कि हास्य अपने उद्देश्य का वार इतनी सफ़ाई और गुप्त रीति से करता है, जिसका पता पाना बहुत मुश्किल है। इसलिये मामूली तौर पर यहाँ यही भ्रम होता है कि इसमें सुधार की कोई छूत नहीं है। मगर होती नहीं, तो फिर हँसी कैसे आती ? मिहनती जातियों में ऐसा बेडौल मुटापा नहीं दिखाई पड़ता, जिससे ज़ाहिर है कि यह दोष उतना प्राकृतिक नहीं, जितना सुस्ती, कामचोरी और आरामतलबी का पैदा किया हुआ है। इसलिये यहाँ हँसी इन्हीं अवगुणों से दूर भागने की होती है। हँसनेवालों की हँसी इस बात को सिद्ध कर देती है कि दोष उनकी निगाहों में खटक गया, और वे स्वयं ऐसा धोंधूमल कदापि नहीं होना चाहते। इन्हीं मामूली बातों से आप अनुमान कर सकते हैं कि मानव-जीवन को ठीक रास्ते पर रखने के लिये हास्य-रस कैसा आवश्यक और उपकारी है।

कला का प्रयोग

अब साहित्य में कहाँ-कहाँ और किस-किस तरह हास्य-कला

का प्रयोग होता है, इस पर एक सरसरी नजर डाल देनी चाहिए। सरसरी तौर पर इसके मुख्य तीन स्थान हैं—(१) घटना, (२) शब्द और (३) चरित्र। इनको हास्यमय बनाने के लिये पतन, बेतुकापन, कठपुतलीपन, आशा तथा अवसर की प्रतिकूलता, ये जो हास्य उत्पन्न करने की चार युक्तियाँ हैं—अर्थात् Degradation, absurdity, automatism और contradiction—उनमें केवल यह देखना है कि कौन-कौन किन-किन स्थानों पर अपना काम करती हैं।

(१) घटना—हास्य-रस प्रकट करने के लिये यों तो इन चारो युक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है, मगर अधिकतर दो ही से काम निकाला जाता है। 'प्रतिकूलता' के अनुसार सहानुभूति को दूर भगाते हुए घटना-क्रम को एकाएक आशा और अवसर की विपरीत स्थिति पर ठोकर खिलाकर उस पर 'पतन' का रंग चढ़ा देना पड़ता है। जैसे "ठाकुर बंबूबक्स-सिंह जज साहब के बराबर कुर्सी पर बिठाले जाने के मनसूबे गाँठते हुए असेसरी करने चले। मगर रास्ते में तहसील के चपरासियों ने उन्हें गँवार पाकर बेगारी पकड़ लिया, और लगे उनसे खाद ढुलवाने।" या "बंटाधार ने महरा पर कुर्क़ी की कार्रवाई इसलिये की कि वह घर से भागा-भागा फिरे, और इन्हें उसकी स्त्री से मिलने में सुगमता हो। मगर कुर्क़ी कंबख्त महरा के यहाँ आई भी, तो कब, जब यह हजरत उसकी स्त्री से मिलने लुक-छिपकर उसके घर गए हुए थे। भागने तक का

रास्ता न मिला। आख़िर एक बोरे में घुसकर बँध जाना पड़ा। और यों इन्हीं को माल समझकर अदालत के चपरासी क़ुर्क़ कर ले गए।"

(२) शब्दों द्वारा हास्य उत्पन्न करने के कई ढंग हैं। एक तो वह, जिसमें 'बेतुकेपन' की युक्ति काम आती है। उसके अनुसार इसमें शब्द ऐसे चुने जाते हैं, जो आशय बताते हुए भी आशय के उपयुक्त न हों। जैसे साहित्यानंद का कहना था—"शर्म से पानी-पानी हुआ जा रहा हूँ।" मगर शुद्ध हिंदी-सेवी बनने के ढंग में हज़रत ने फ़रमाया—"मैं लज्जा से जल-जल हो रहा हूँ।"

दूसरा वह, जिसमें 'प्रतिकूलता' के अनुसार आशय अपने विपरीत शब्दों में प्रकट किया जाता है, जिसका एक नमूना यह है—

"मास्टर साहब का रंग इतना काला था कि स्कूल के लड़के काली रोशनाई की जगह मास्टर साहब का पसीना इस्तेमाल करने की ताक में थे।" यह ढंग व्यंग्य और हास्य-शैली में अच्छा काम देता है।

तीसरा ढंग तकियाकलाम या उन शब्दों के प्रयोग में है, जो मुँह से अनायास ही निकल पड़ते हैं। इसमें 'कठपुतलीपन' की युक्ति लागू होती है। जैसे एक नए ईसाई साहब फोड़ा चिराने अस्पताल गए। जब तक फोड़ा चीर जाने के लिये धोया जाता था, तब तक नए साहब बहादुर—"O ! my

God ! O ! my Lord ! O ! my Holy Saints !" कहकर अपने दिल को मज़बूत करते रहे, मगर जैसे ही फोड़े में छुरी घुसी, वैसे ही साहबियत की नई क़लई पिघल गई, और साहब बेअख़्तियार चिल्ला पड़े—"अरे राम ! रे राम !"

चौथे ढंग में आशय के अनुकूल और उपयुक्त शब्द होते हुए भी इस ख़ूबी से चुने जाते हैं, जिनका एक गुप्त आशय 'पतन' के रंग में रँगा हुआ निकलता है, जिसकी रगड़ से हास्य उत्पन्न होता है। इसी के अनुसार अक्सर लड़के एक दूसरे को बताशा दिखाकर कहते हैं—"बतासा ले।" विनोद अपना खेल अधिकतर इसी नियम पर दिखाता है। हास्य-चरित्र का उत्पन्न करना हास्य-कला में सबसे टेढ़ी खीर है, क्योंकि इसमें पहनाव, पोशाक, चाल-ढाल, बातचीत, आचार-विचार, स्वभाव-व्यवहार सब पर बराबर दृष्टि रखनी पड़ती है, और सभी में हास्य की सभी युक्तियाँ प्रयुक्त होती हुई आदि से अंत तक एक समान निभाई जाती हैं। इसी के बल पर हास्य अटल होकर अपने साहित्य को ऊँचा करता है। इसीलिये हास्य का यह अंग हास्यज्ञानियों में सबसे श्रेष्ठ और आदरणीय माना जाता है। यों तो सभी कहानी, उपन्यास और नाटकों में पात्र होते ही हैं, क्योंकि घटना-क्रम इन्हीं के सहारे चलता है, मगर चरित्र के दर्जे तक सभी पात्र नहीं पहुँचते। चरित्र और ही चीज़ है। सरसरी तौर पर समझने के लिये यों समझ लीजिए कि पात्र और चरित्र में उतना ही भेद है,

जितना एक मृत और जीवित की आत्मा में। पात्र घटना के वश में होता है, तो चरित्र अपना प्रभाव घटना पर डालता है। चरित्र में अपना ख़ास व्यक्तित्व होता है, जो पात्र में नहीं होता। पात्र के जीवन का, पाठकों के दिमाग़ में, रचना की समाप्ति के साथ ही अंत हो जाता है, मगर चरित्र अपनी सजीवता हमेशा बनाए रखता है। इसीलिये हम 'शाइलाक' को नहीं भूल पाते।

चरित्र-रचना यों ही लोहे का चना है, उस पर हास्य-चरित्र की उत्पत्ति करना तो और भी ग़ज़ब है। इसमें बाहरी मदद बहुत कम मिलती है. क्योंकि संसार में ऐसे चरित्र बहुत कम देखने को मिलते हैं। मानव-जाति के दोषों का थोड़ा-थोड़ा मसाला कई जगह से एकत्र करके एक बिलकुल ही निराले चरित्र की उत्पत्ति करनी पड़ती है, और इतनी सफ़ाई के साथ कि अपने उद्देश्य के अनुसार सब दोषों का प्रतिनिधि बना हुआ भी आँखों के सामने एकदम जीता-जागता मनुष्य बन जाय। इसी से हास्य-चरित्र-रचना हास्य-कला का सबसे कठिन अंग माना गया है। यही कारण है कि संसार के बड़े-बड़े साहित्य सब प्रकार के हास्य से कितने ही भरे हुए होने पर भी हास्य-चरित्र बस इने-गिने ही दे सके हैं, और उन्हीं इने-गिनों ही पर उनके साहित्य की सारी बड़ाई की धाक जमी है। अँगरेजी-भाषा का विस्तार दुनिया के इस छोर से उस छोर तक फैला हुआ है मगर उसमें Shakespeare के

Falstaff और Dickens के Pick wick के समान सजीव हास्य-चरित्र गिनकर देख लीजिए, कितने हैं। उसी के साथ अपनी हिंदी का भी विस्तार देखिए। और, यह भी देखने की कृपा करें कि इसने थोड़े ही अर्से में अपने मौलिक हास्य-चरित्रों की भरमार कर दी है। यह जानकर सबकी छाती गर्व से फूल उठेगी कि इन्हीं हास्य-चरित्रों के बल पर आज हमारी हिंदी वह हिंदी हो रही है कि इसके विस्तार का न भी ख़याल किया जाय, तो भी इसका सिर संसार में किसी भी साहित्य के आगे झुक नहीं सकता।

हास्य का प्रभुत्व

हास्य का प्रभुत्व उन्हीं रचनाओं पर निर्भर होता है, जिनमें घटना-शैली और चरित्र, सभी में हास्य-कला का पूर्ण विकास हो। ऐसी रचनाएँ क़दम-क़दम पर हास्य की बहार दिखाती हैं, और रोते को भी विना हँसाए नहीं रह सकतीं। तभी हास्य हास्य कहलाता है, और उसकी धूम मचती है, वर्ना दस-बीस सफ़े पढ़ने के बाद सूखी हँसी की ज़रा-सी खीस निकली भी, तो क्या? कुछ भ्रम-पूर्ण परिस्थिति और कुछ ऊटपटाँग शब्द के अतिरिक्त न उसमें हास्य-चरित्र ही हो सकते हैं, और न हास्य-कलाओं का पूर्ण विकास। तो फिर इससे भला कहीं हास्य का गौरव बढ़ सकता है? यद्यपि कुछ असफल रचनाओं के स्वार्थी प्रकाशक और 'नाच न जाने, आँगन टेढ़ा' बताकर ज्ञानी बननेवाले कुछ ढोंगी इस बात का आंदोलन कर रहे

हैं कि श्रेष्ठतम हास्य तो यही है, और बाक़ी सब घास-कूड़ा। क्योंकि इन्हें किसी तरह पुस्तक बेचने की लगी है, और उन्हें पाँचो सवारों में अपना नाम लिखाने की पड़ी है; तथापि जनता उनकी जो आव-भगत कर रही है, वह छिपी नहीं है। इसी तरह हमारे हास्य-सेवियों को भी चाहिए कि किसी के फेर में पड़कर अपना रास्ता न भूलें। कला का दबा हुआ प्रयोग करके हास्य को टुटपुँजिया और भीगी बिल्ली बनाना हास्य-सेवियों को उचित नहीं है। ऐसी सूखी हँसी का उत्पन्न करना उन्हीं लेखनियों को शोभा दे सकता है, जो अन्य रस की उपासिका हैं या किसी भी रस की उपासिका नहीं, या फिर जिनमें दिल खोलकर हँसाने का दम नहीं है।

इतनी ही सूखी बातों में आप लोग ऊब उठे होंगे, इसलिये आगे कुछ चटपटे ढंग पर कहने का उद्योग करने जा रहा हूँ। उसके लिये अपने एक 'साहित्य का सपूत'-नामक साहित्यिक नाटक से एक दृश्य का कुछ अंश पढ़कर सुना देना काफ़ी होगा, जो सौभाग्य से हास्य-रस के साथ-साथ हास्य-रस ही पर है।

अंक २—दृश्य १

(मेज़ और फ़र्श पर काग़ज़ों और अख़बारों का ढेर लगा है। दो-चार टूटी कुर्सियाँ रक्खी हैं। साहित्यानंद सामने सादा काग़ज़, क़लम, दावात और कुछ पैकेट रक्खे फ़र्श पर पल्थी मारे बैठे हुए हँस रहे हैं।)

सा०—(आप-ही-आप) आहा ! हा-हा !! ओहो ! हो-हो !!

(टेसू का एक लेई की प्याली लेकर आना)

टेसू—"लीजिए सरकार, लेई तैयार हो गई। पैकेट चिप-काइए। अरे ! आप तो हँस रहे हैं।"

सा०—"चुप रह। (फिर हँसता है) ही-ही-ही !"

टेसू—(लेई रखकर खड़ा तमाशा देखता हुआ) 'वाह ! वाह !' अरे सरकार, वह देखिए, वह लेई रक्खी है।"

सा०—(गुस्से में उठकर) "फिर नहीं मानता। जब देखो, तब दुष्ट काम ही के समय विघ्न डालता है।"

टेसू—(दूर भागकर) "आप ही ने तो कहा था कि जल्दी से लेई बना ला। डेढ़ सौ पैकेट चिपकाने हैं।"

सा०—"मगर यह मैंने कब कहा था कि जब मुझे काम में देखना, तभी फट पड़ना। अरे ! 'परंतु' के स्थान पर 'मगर' कह गया। राम ! राम !"

टेसू—"आप काम कहाँ कर रहे थे। लेई थी नहीं, आप करते क्या ?"

सा०—(झपटता हुआ) "क्या संपादकों के लेई चिपकाना ही काम होता है। क्यों बे उल्लू के पट्ठे, उहुँक उल्लूक-पुत्र।"

टेसू—(दूसरी तरफ़ भागकर) "तब क्या सामने सादा काग़ज़ रक्खे झूठमूठ ही-ही-ही करना भी कोई काम है।"

सा०—"मैं झूठमूठ ही-ही-ही कर रहा था ?"

टेसू—"तब क्या कर रहे थे ?"

सा०—"मैं हास्य-टिप्पणी लिखने के लिये अपने हृदय में हास्य-भाव का संचार कर रहा था। मूर्ख, जिसे तूने आकर सब भ्रष्ट कर डाला। अब लिखूँ क्या? अपना शीश!"

टेसू—"क्या? क्या? क्या?"

सा०—"नहीं समझता, तो अपनी ऐसी-तैसी में जा। चल हट, मुझे काम करने दे। धत्तेरे की। बना-बनाया सब व्यर्थ हो गया। मुझे हास्य-भाव अब फिर आरंभ से उत्पन्न करना पड़ा। (हँसने की कोशिश करता हुआ) आहा! आ! आ! अररर! अब तो हँसी लुप्त हो गई। आ—आ—आ"

टेसू—(पास आकर) "लीजिए, फिर आ गया सरकार! कहिए?"

सा०—"अबे, तुझे किसने बुलाया, जो आकर खोपड़ी पर सवार हो गया? उहुँक-उहुँक मुंड पर आरूढ़ हो गया।"

टेसू—"आप ही ने तो अभी कहा कि आ-आ-आ, तब मैं आया।"

सा०—"अबे गधे, उहुँक गर्दभ। हाँ, अबे गर्दभ, मैं तुझे पुकार रहा था कि हँसने की चेष्टा कर रहा था?"

टेसू—"आप आ-आ करके हँसना चाहते थे?"

सा०—"निस्संदेह। बस, अब भाग यहाँ से, पलायन कर, मुझे काम करने दे।"

टेसू—(नक़ल करता हुआ) "आ! आ! आ! यह किस ढंग की हँसी है? (हँसता हुआ) आहा! हा! हा! भला, ऐसी

भी कहीं हँसी होती है। आहा! हा! हा! बाप रे बाप! दम फूल गया।"

सा०—"अयँ? अयँ? अयँ? एक तो हमारी हँसी अटक गई, और ऊपर से तू हँसता है। खड़ा तो रह पाजी!" (मारने को दौड़ता है। टेसू मेज़ के चारो तरफ़ भागता है, साहित्यानंद पकड़ नहीं पाते)

सा०—(थककर) "अबे, रुक जा। ठहर जा! हाय! हाय! फिर नहीं सुनता!" (हाँफता है)

टेसू—(दौड़ता हुआ) "नहीं-नहीं, आप मारेंगे।"

सा०—(हाँफता हुआ बैठकर) "मारता तो अवश्य, परंतु-परंतु आह! परंतु यदि तू मेरी आज्ञा-पालन करे, तो क्षमा कर दूँगा।"

टेसू—(रुककर) "हाँ, अच्छा कहिए, क्या हुक्म है?"

सा०—"इधर आ! आह! नहीं मारूँगा बे, इधर आ!"

टेसू—(ज़रा दूर खड़ा होकर) "यह लीजिए, मगर मैं समझ गया, आप यही कहेंगे कि बाहर का दरवाजा बंद कर दे, ताकि आपको लेई से चिपका-चिपकाकर पैकेट बनाते कोई देख न ले। उसके लिये न घबराइए, मैंने पहले ही बंद कर दिया है।"

सा०—"नहीं बे। मैं दूसरी बात—"

टेसू—"ओहो! तब तो आप यह कहेंगे कि मुझे संपादकजी कहा कर।"

सा०—"नहीं-नहीं। इस समय यह बात नहीं—"

टेसू—"हाँ-हाँ, अभी नहीं, दूसरों के सामने, जब आप बहुत सँभलकर कुर्सी पर बैठते हैं, क्योंकि उसकी एक टाँग टूटी हुई है।"

सा०—"आह! नहीं!"

टेसू—"बस-बस, समझ गया! आप मुझे भी अपनी तरह अंड-बंड बोलना सिखाएँगे।"

सा०—"तेरी ऐसी-तैसी! सुअर, पाजी, बदमाश कहीं का।"

टेसू—"और दुष्ट कहना तो आप भूल ही गए।"

सा०—"अब जो बोलेगा, तो मुँह में कपड़ा ठूँस दूँगा। बस, चुपचाप मुख बंद करके सुन, अन्यथा मारते-मारते .."

टेसू—"अच्छा, अच्छा, अच्छा! कहिए! कहिए! कहिए!"

सा०—"सुन, आजकल जनता की रुचि भ्रष्ट हो गई है। वह हास्य को भी साहित्य का अंग मानने लगी है, और कहती है कि इस रस में भी कई भेद हैं, अर्थात् व्यंग्य, विनोद, हास्य, परिहास, उपहास इत्यादि। इन सबों पर पत्र-पत्रिकाओं में एक-न-एक लेख अवश्य होना चाहिए, अतएव हम संपादक-गण अपने-अपने पत्रों में हास्य की कुछ-न-कुछ सामग्री देने के लिये अब विवश हैं, परंतु मुझे किसी भी हास्य-लेखक का पता मालूम—उहुँक—ज्ञात नहीं है। इसलिये इस अभाव की पूर्ति मुझे अपने पत्र में स्वयं अपनी लेखनी द्वारा करनी पड़ गई।"

टेसू—"आप कहते क्या हैं?"

सा०—"फिर बीच में बोला। अभी कहाँ कहता हूँ। अभी तो भूमिका बोल रहा हूँ।"

टेसू—"तभी समझ में नहीं आती। यह कोई नई बोली है, क्योंकि जो बोले, वही समझे, दूसरा नहीं।"

सा०—"अबे, भूमिका समझना ठट्ठा नहीं होता। आद्योपांत धैर्य-पूर्वक सुनेगा, तब समझ में आएगी। हाँ, क्या कह रहा था ?"

टेसू—"वही, जो समझ में नहीं आती।"

सा०—"इसी अभाव की पूर्ति करने के लिये मैं अपनी संपादकीय टिप्पणियाँ हास्य-रस में लिखने का प्रयत्न कर रहा था। यद्यपि हमारे-ऐसे उच्च कोटि के साहित्यज्ञों को हास्य की ओर निरादर की दृष्टि से अवलोकना चाहिए, तथापि ग्राहकों के संतोषार्थ यह अधम कार्य करने के लिये मुझे विवश होना पड़ा। अस्तु।"

टेसू—(अलग) "अब यह श्रीसत्यनारायण की कथा शुरू हुई। बस, अब चुपके यहाँ से खसक चलो।" (टेसू चल देता है)

सा०—(अपनी धुन में उसी तरह) "किसी ने बताया विपरीत घटनाओं के समावेश से हास्य उत्पन्न होता है, तो किसी ने कहा कि उल्टे ढंग से आशय लिखने से शैली हास्य-पूर्ण हो जाती है, परंतु इस इपरीत-विपरीत के फेर में यहाँ मस्तिष्क ही भ्रष्ट हुआ जा रहा है। इसलिये हास्य लिखने के लिये यह नवीन और मौलिक युक्ति निकाली है कि पहले

पेट-भर हँस लो, ताकि जब पेट में हँसी ठसाठस भर जाय, तो वह लेखनी द्वारा आप-ही-आप अवश्य निकलेगी।"

टेसू—(बाहर से झाँककर अलग) "ओहो! अभी राँड़ का चर्खा चल रहा है।"

सा०—"परंतु खेद! खेद! खेद! तूने सब चौपट कर दिया। मेरे हास्य-भाव को विघ्न डालकर खेद-भाव में परिवर्तन कर दिया। इस हानि का उत्तरदाता तू है। समझा? (इधर-उधर ताककर) अरे! कहाँ गया बे।"

टेसू—(बाहर से झाँककर) "कहिए-कहिए, मैं सुन रहा हूँ।"

सा०—"वहाँ क्या करने गया?"

टेसू—"आप कह चुके?"

सा०—"लगभग। बस, अब केवल उपसंहार कहना और रह गया, परंतु तू वहाँ—"

टेसू—"उपसंहार?"

सा०—"हाँ-हाँ, उपसंहार। जिसे कथा तथा वार्ता की दुम—उहुँक—पूँछ कहते हैं। परंतु—"

टेसू—"अच्छा, कुछ सही। लगे हाथों उसे भी उगल डालिए। जब तक मैं खाना खा आऊँ।"

सा०—"क्या? तू खाना खाने—उहुँक—भोजन भक्षने चला जायगा, तो मेरी हानि की पूर्ति कौन करेगा? यही तो कहना रह गया था।"

टेसू—"बहुत भूख लगी है सरकार।"

सा०—"पहले इधर का द्वार तो बंद कर लूँ, तब बताता हूँ, नहीं तू पुनरपि अभ्यंतर पलायन कर जायगा···हाँ, तूने मेरे अत्यंत उद्योग-पूर्ण संचित हास्य-भाव को अपने आगमन से भ्रष्ट करके विलीन कर दिया है, अतएव मुझमें तुझे हास्य फिर से—उहुँक—पुनः से एँ एँ एँ हाँ, आविर्भूत करना पड़ेगा। समझा ?"

टेसू—"हाँ !"

सा०—"क्या ?"

टेसू—"यही अगड़म्-बगड़म्, सगड़म्-तगड़म्"

सा०—"अबे यह क्या ?"

टेसू—"यही तो आप कह रहे थे।"

सा०—"हरामज़ादा, बदमाश, सुअर का बच्चा कहीं का। मैं अगड़म्-बगड़म् कह रहा था। अरे ! राम ! राम ! इस मूर्ख से बातें करना भाषा का अपभ्रंश करना है। अबे, मैं कहता हूँ कि तूने मेरी हँसी बिगाड़ी है, इसलिये तुझे मुझको हँसाना पड़ेगा।"

टेसू—"रहने दीजिए, आप तकलीफ़ न कीजिए। मुझे आप ही अहा ! हा हा !! आपकी बात पर हा ! हा हा !! हँसी आ रही है।"

सा०—"अबे, मैं नहीं, मैं नहीं, तू मुझको हँसा। फिर नहीं सुनता।" (धरने को झपटता है)

टेसू—हाँ-हाँ, मारिए मत, नहीं मेरी भी हँसी भड़क जायगी। हाथ जोड़ता हूँ, ज़रा हँस लेने दीजिए, आ हा ! हा !"

सा०—"अच्छा, तो मुझको भी हँसाता चल, नहीं मारता हूँ चपत।"

टेसू—"क्या ? ऊँ आपको हसाऊँ ?"

सा०—"हाँ, क्योंकि हास्य-टिप्पणी मुझको लिखनी है, तुझे नहीं।"

टेसू—"मैं कैसे हँसाऊँ ?"

सा०—"यह मैं नहीं जानता। बस, हँसाना पड़ेगा, अन्यथा तेरा अपराध क्षमा नहीं हो सकता।"

टेसू—"यह बड़ी मुश्किल है। रुलाना कहिए, तो अभी यह कह करके रुला दूँ कि आपका कोई मर गया है। गुस्सा दिलाने को कहें, तो ऐसी गाली दूँ कि आप अगियाबैताल हो जायँ। क्योंकि यह सब तो आसान मालूम होते हैं, मगर हँसाना बड़ी टेढ़ी खीर है। समझ में नहीं –"

सा०—"अबे, चुप-चुप-चुप-चुप।"

टेसू—"मगर क्यों-क्यों-क्यों-क्यों ?"

सा०—"एक तो कुछ अनाड़ियों ने हास्य को साहित्य में स्थान देकर साहित्य की दुर्दशा यों ही कर डाली है, उस पर तेरी यह वार्ता वह जो कहीं सुन लेंगे, तो हास्य को साहित्य का सबसे कठिन अंग मान बैठेंगे।"

टेसू—"जी हाँ, कठिन है। अब मैं रोटी न खा आऊँ ?"

सा०—"तेरी ऐसी तैसी; बचा, बिना मुझे हँसाए तू यहाँ से गमन नहीं कर सकता।"

टेसू -"तो मैं कैसे हँसाऊँ ? आप बच्चा होते, तो लू-लू-लू-लू करके हँसा भी देता।"

सा०—"नहीं बे, कोई हँसी की बात कहकर हँसाओ।"

टेसू -"अच्छा।"

सा०—"अब ताक—उहुँक - अवलोकता क्या है ? कहता क्यों नहीं ?"

टेसू—"अच्छा, कहता हूँ, आप हँसने के लिये बिल्कुल तैयार हो जाइए।"

सा० -"यह ले (हँसने की तैयारी मे मुँह खोलकर) आ-आ-आ - "

टेसू—"वाह-वाह ! (हँस पड़ता है) आहा ! हा-हा ! उफ़् ओ !"

सा० -"अरे, तू फिर हँसने लगा। अच्छा, हँस डाल। ... हँस चुका ?—अच्छा, अब तो मेरे हँसने के लिये हास्य-वर्ता कह।"

टेसू—' कहता हूँ। हाँ 'आपका' मगर मिहरबानी करके इस तरह मुँह फैलाकर मुझे न घूरिए, नहीं मेरी हँसी फिर रोके न रुकेगी। ऊपर ताकिए ऊपर, ऊपर मेरी तरफ़ नहीं। हाँ, अब ठीक है। अच्छा, कहता हूँ।"

सा०—' हास्य-वार्ता है न ?"

टेसू—"बिल्कुल।"

सा०—' शुद्ध हास्य रस की ? अश्लील तो नहीं है ?"

टेसू—"यह गड़बड़-सड़बड़ आप जानिए। मैं कहता हूँ, हँसने के लिये मुँह ऊपर फैलाए रहिए। हाँ, सुनिए, आपका मुँह—"

सा०—"अच्छा।"

टेसू—"बिल्कुल।"

सा०—"अच्छा। परंतु हँसी नहीं आई।"

टेसू—"अब आती ही है, घबराइए नहीं। हाँ, आपका मुँह बिल्कुल—"

सा०—"आगे कह, आगे। मैं हँसने के लिये मुँह फैलाए हूँ।"

टेसू—"बनबिलाव-सा है।"

सा०—"अबे, मेरा मुँह?"

टेसू—"हाँ-हाँ, आप ही का मुँह।"

सा०—"तेरी ऐसी-तैसी।"

टेसू—(भागता हुआ) "झूठ नहीं, सच। आप खुद इधर आकर देख लीजिए।"

सा०—(टेसू की तरफ़ जाकर) "अच्छा, दिखा कंबख़्त उहुँक—दुष्ट। बता, कहाँ है मेरा मुँह बनबिलाव-सा।"

टेसू—"अब दिखाऊँ कैसे? आप तो अपने साथ अपने मुँह को भी घसीट लाए। मुँह वहीं छोड़कर आइए, तब दिखाऊँ भी।"

सा०—"खड़ा तो रह दुष्ट, चांडाल, पिशाच, नराधम, सुअर का शिशु।"

टेसू—(भागता हुआ) "अरे! आपको हँसाने की एक नई

तरकीब सूझ गई, सूझ गई। मगर हाँ-हाँ, कहीं मार न बैठिएगा, नहीं सब भूल जाऊँगा।"

सा०—"हाँ! अच्छा, वह क्या है? शीघ्र बता, शीघ्र।"

टेसू—"आप उधर मुँह करके खड़े होइए।"

सा०—"यह ले।"

(टेसू साहित्यानंद की कमर गुदगुदाता है, और वह हँस पड़ते हैं)

सा०—"आहा! हा-हा! आहा! हा-हा! यह युक्ति निःसंदेह अनुपम है। अरे! अहाहा! अब ब-ब-बस कर, बस कर, मेरा हास्य-भंडार भर गया। आहा-हा-हा-हा! अरे, अब लिख डालने दे, लिख डालने दे।"

टेसू—"हाँ-हाँ, अवश्य लिखिए! मना कौन करता है?"

सा०—(बैठकर लिखने का उद्योग करता हुआ) "हाँ, लेखनी महरानी, अब बहाओ हास्य की धारा, (ज़ोर लगाता हुआ) हुंहुं! हुंहुं!"

टेसू—"अरे! यह हु-हु क्या?"

सा०—"चुप रह। हास्य निकालने के लिये ज़ोर—उहुँक—बल लगा रहा हूँ। हाँ, चल-चल-चल। अरे, लेखनी तो चलती ही नहीं। अरे टेसुआ, टेसुआ, ओ टेसुआ!"

टेसू—"जा हाँ, कहिए-कहिए-कहिए।"

सा०—"अबे, जल्दी से ज़रा—उहुँक—तनिक और तोक्रूक भर देना।"

टेसू—"क्या मसाला ख़ाली हो गया। अच्छा, अभी लीजिए।

मगर यह अच्छी तरकीब है कि इधर कूक भरी जाय, तो उधर लेखनी चले।" (गुदगुदाता है)

सा०—"आहा-हा-हा! ब-ब-ब-बस-बस! आहा-हा-हा! अब तो चलो श्रीमती लेखनीदेवी! अरे, अब भी नहीं। जानो लेखनी में मोर्चा लग गया है।"

टेसू—"जी हाँ, नाच न जाने, तो आँगन टेढ़।"

सा०—"लेखनी को तनिक साफ़ —उहुँक —शुद्ध तो कर लो। तब एक बार किटकिटाकर सारा बल लगा दूँ। यदि तब भी कुछ न निकले, तो समझूँगा कि हास्य हम ऐसे उच्च कोटि के साहित्य-मर्मज्ञों के लिखने का पदार्थ नहीं है।"

टेसू—"जी हाँ। अंगूर खट्टे हैं।"

सा०—"इसीलिये हम लोगों को इसे अनादर की दृष्टि से अवलोकना चाहिए, और इसे अश्लील, भ्रष्ट, घृणित, चरित्र-नाशक, कुत्सित प्रभाव-जनक इत्यादि-इत्यादि बताना चाहिए।"

टेसू—"जी हाँ, खिसियाई बिल्ली खंभा नोचे।"

सा०—"और यह भी कहना चाहिए कि हमारे साहित्य में शुद्ध हास्य-रस का बड़ा अभाव है। और, जिसे लोग हास्य मानते भी हैं, उसमें हास्य का कचूमड़ निकल गया है, अश्लीलता भरी है, और अधिकांश अनुवादित है, ताकि हास्य का मान न बढ़ने पाए।"

टेसू—"जी हाँ, घोड़ा परखे भवन चमार।"

सा०—"और भी जानता है, क्यों हमें ऐसा करना चाहिए,

ताकि पाँचो सवारों में हम भी गिने जायँ, और साहित्य-सम्मेलन के सभापति हो जायँ। डेढ़-डेढ़ हाथ के शब्द प्रयोग करके भाषा को दुर्गम्य बना ही रहा हूँ, बस, जहाँ हास्य पर भी अनादर की दृष्टि डालना आरंभ कर दिया, तहाँ सभापतित्व धरा है।"

टेसू—"जी हाँ, अंधेर नगरी, चौपट राजा।"

सा०—"अबे, तू प्रत्येक वार्ता के अंत में क्या बुदबुदा देता है, जिसको बुद्धि ग्रहण नहीं कर पाती।"

टेसू—"यह तुर्की-ब-तुर्की है सरकार। न आपकी मैं समझूँ, न मेरी आप। अच्छा, लीजिए, क़लम साफ़ हो गई, अब लिखिए।"

सा०—"लिखता हूँ बे! कोलाहल क्यों करता है।... अच्छा, लिखने जाता हूँ, और गुदगुदा दे।" (द्वार पर खटखटाहट)

टेसू—"वह लीजिए, कोई आ गया। अब आपको गुदगुदाऊँ कि दरवाज़ा खोलूँ?"

सा०—"धत्तेरे की! पुनरपि विघ्न? अबे, रुक जा। मुझे शीघ्रता से कुर्सी पर बैठ जाने दे, तब द्वार खोल।"

(घबराहट में तीन टाँग की कुर्सी साहित्यानंद को लिए हुए लौट गई)

सा०—(ज़मीन पर गिरे हुए) "अरे! बाप रे बाप! हाय! दादा रे दादा! सर फूट गया—"

टेसू—"अरे! यह क्या ग़ज़ब करते हैं। आप साहित्य-

सम्मेलन के सभापति होनेवाले हैं। भाषा में रोइए—शुद्ध हिंदी-भापा में। बाप-बाप नहीं, कहिए अरे! पिता रे पिता! अरे पितामह रे पितामह!"

❋ ❋ ❋

बस, इतना समय जो आप लोगों का नष्ट किया है, उसके लिये कृपया मुझे क्षमा करके अब बैठने की आज्ञा दीजिए, क्योंकि यह सभापति की कुर्सी भी कहीं तीन टाँग की न निकले।

[३*]

साहित्य का तमाशा

मातृभाषा बनाम बनावटी भाषा

सबसे पहले मैं आप लोगों का ध्यान भाषा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ, क्योंकि यह साहित्य की पोशाक है। पहले इसी पर नज़र पड़ती है। पोशाक वही अच्छी, जो अंग की शोभा बढ़ाए, और उसकी फुर्ती और चाल में तनिक भी बाधा न डाले। मगर पोशाक की बलिहारी कि अंग की फुर्ती और ख़ूबसूरती तो अलग रही, यहाँ यही पता नहीं चलता कि उसके भीतर आदमी है या कोई लूलू। क्योंकि आजकल के कुछ साहित्यिकों ने साहित्य का गौरव इसी में समझ रक्खा है कि डेढ़-डेढ़ पसेरी के शब्द धड़ाधड़ ढकेलते जाओ, चाहे स्वाभाविकता की खोपड़ी फूटे, या भावों की नज़ाकत और विचारों की बारीकी का कचूमर निकल जाय। बला से। हमें तो लोग समझेंगे कि हम बहुत पढ़े हैं, सारी डिक्शनरी बरज़बान रटे हैं। जब पाठक भाषा में ही उलझकर रह जायँगे, तब भला कौन

---

* २० नवंबर, सन् १९३२ को पटना-कॉलेज के हास्य-रस-सम्मेलन में श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव ने सभापति के आसन से 'साहित्य का तमाशा' नामक जो ओजस्वी भाषण दिया था, उसी का कुछ अंश दिया जाता है, क्योंकि संपूर्ण भाषण प्राप्त न हो सका।

ऐसा माई का लाल है, जो विचार और भाव तक पहुँचकर उनमें दोष निकालने का साहस करेगा? चलिए, अपनी आबरू की आबरू बची, साहित्य की मुश्किलें भी सभी आसान हो गईं, और योग्यता का साइनबोर्ड मुफ़्त में खोपड़ी पर लटकाने के लिये मिल गया। इससे बढ़कर हमारे साहित्यिकों को और क्या चाहिए? एक नुसख़े में सारा झगड़ा ख़तम। सहल लिखते, तो एक-एक शब्द की जाँच और तौल की ज़रूरत थी। शैली भड़कने का डर था कि कहीं बेमेल शब्दों के आ जाने से इसकी चाल न बिगड़ जाय। स्वाभाविकता अलग चिल्लाती—हाँ-हाँ, यह शब्द इस जगह चालू नहीं है। प्रभाव दूर से ही दोहाई मचाता—ठहरो-ठहरो, मेरा सारा ज़ोर ही नाश हुआ जा रहा है। और तो और, ख़ुद अपने ही कान कंबख़्त खड़े होकर नाक-भौं सिकोड़ते कि यह क्या अंधेर कर रहे हो। जो बहार और ताज़गी, जो शक्ति और प्रभाव सादगी और सरलता में है, वह डेढ़-डेढ़ हाथ के बनावटी शब्दों में कहाँ? विचार तथा भावों की लहर के साथ जब भाषा भी बल खाती हुई बहती है, तभी साहित्य का सौंदर्य निखरता है। यह लोच भला पहाड़-ऐसे शब्दों में कब मुमकिन है, जिन्हें अपनी लोथ ख़ुद ही भारू है?

ऐसे साहित्यिकों को इन झमेलों से अपनी आबरू बचाने के लिये उनके भाग्य से हिंदी और उर्दू का झगड़ा भी अच्छा मिल गया है। जहाँ ज़रा सरलता की धारा देखी, बस लगे

कफ़न फाड़कर रेंकने त्राहि माम्! त्राहि माम्! यह हिंदी नहीं, हिंदी नहीं, वरन् म्लेच्छ भाषा के संपर्क से खिचड़ी भाषा है। और, बलिहारी हमारे हिंदी-संसार की कि इनकी चिल्लाहट पर अब तक डाँवाडोल है। पुस्तकों में इसी की ध्वनि गूँज रही है। सम्मेलनों में इसी का डंका पीटा जा रहा है। और, क्षमा कीजिएगा, विश्वविद्यालयों में भी इसी का बोलबाला है। उस पर यह दम कि हिंदी हमारी मातृभाषा है! अगर है, तो हमारे बोलचाल में जो शब्द प्रयोग होते हैं, उनसे लेखनी को क्या परहेज़ कराया जाता है? बोलें देसी और लिखें मरहठी, तब तो लेखनी भाषा का कल्याण कर चुकी, उसमें स्वाभाविकता और शक्ति ला चुकी, उसे मातृभाषा बना चुकी, मातृभाषा कुछ दो-चार पढ़े-लिखों की बपौती जागीर नहीं है कि वे ही बोलें, और वे ही समझें। मातृभाषा सर्व जनता की है। जिसको हमारी जनता पूर्ण रूप से नहीं समझती, वह मातृभाषा कदापि नहीं कहला सकती। ऐसी भाषा को मेरा दूर से ही प्रणाम है। इसका विरोध मैं आज से नहीं, बाईस वर्षों से लगातार करता आ रहा हूँ, और मातृभाषा की ख़ातिर बराबर करता रहूँगा। इसको सम्मेलन या विश्वविद्यालय हिंदी का लाख सर्टिफ़िकेट दे, शुद्ध हिंदी या टकसाली हिंदी जो चाहे कहे, मगर मेरी नजर में वह हिंदी नहीं, कोरी बनावटी भाषा है। शुद्ध टकसाली और असली हिंदी वह है, जो हमारी जनता के हृदय से निकलती है, और जो सारे भारतवर्ष क्या अदन

और दक्षिण आफ्रिका तक में समझी जा सकती है। अगर इसमें उर्दू, फ़ारसी या अँगरेज़ी के शब्द आ गए हैं, तो बला से। जिन्हें ज़बान अपना चुकी, वे हमारे लिये हिंदी हो चुके। उन्हें सिर-आँखों पर बिठलाना हमारी लेखनी का काम है। उनकी आवभगत वैसी ही होनी चाहिए, जैसी संस्कृत के शब्दों की है। तभी हमारी भाषा का भांडार बढ़ सकता है। हर तरह के विचारों के लिये हर मौक़े पर तरह-तरह के उपयुक्त शब्द मिल सकते हैं। और, तब हिंदी हमारी मातृभाषा ही नहीं, बल्कि राष्ट्र-भाषा होकर ही रहेगी। इसके आसन को फिर कोई डिगा नहीं सकता, इसके प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता।

छुआछूत के रोग ने हमारे देश में धर्म और समाज की जो दुर्दशा कर रक्खी है, वह छिपी नहीं है। फिर भी अफ़सोस, हमारी आँखें नहीं खुलीं। और, वही रोग हम अपनी भाषा में भी फैलाकर उसकी जड़ खोदना चाहते हैं। जिसमें जीव है, वह अपनी जगह पर कभी स्थिर नहीं रह सकता। उसमें कुछ-न-कुछ चाल का होना आवश्यक है। यह चाल उन्नति के लिये होती है, और वह उन्नति तभी कर सकता है, जब तक उसमें अपनाने की शक्ति है। जहाँ यह शक्ति नष्ट हुई, वहीं से उसका सर्वनाश शुरू हो जाता है। यह गुण न होने के कारण हमारा धर्म और समाज दिनोंदिन निर्बल होता जाता है, और इसी गुण को ठुकराकर हमारे साहित्यिक हिंदी-हितैषी बनते हैं! असली मातृभाषा को खिचड़ी कहकर मुँह बिचकाते हैं!

जो पराए शब्द अपने हो चुके हैं, उनको त्यागना बताते हैं ! ये हिंदी-हितैषी नहीं, हिंदी-द्रोही हैं। ये लोग हिंदी को कभी पनपने न देंगे। राष्ट्र-भाषा तो दूर रही, मातृभाषा भी न होने देंगे। हिंदी को पढ़-लिखकर समझने और पढ़ने की भाषा बनाकर बस किताबों ही में क़ैद कर रखना चाहते हैं।

अमेरिका में अँगरेज़ जाकर बसे, और योरप के सभी देशों के भी लोग वहाँ गए, मगर वहाँ जाकर रहनेवाले केवल अँगरेज़ ही अमेरिकन नहीं कहलाए, बल्कि वहाँ बसनेवाली सभी देश की जातियाँ इस नाम की अधिकारिणी हुईं, और घुल-मिलकर एक हो गईं। और, तभी इस जाति ने संसार में अपनी धूम मचा रक्खी है। इसी तरह हिंदी में केवल वे ही शब्द हिंदी कहलाने के अधिकारी नहीं, जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से ही हुई है, बल्कि उर्दू और अँगरेज़ी के वे सभी शब्द उसी सम्मान के योग्य हैं, जो हमारे बोलचाल में आकर उनके साथ मिल-जुल गए हैं। टिकट, पोस्टकार्ड, डॉक्टर, कांस्टेबिल, पुलिस, रेल, मोटर, लारी, स्टेशन इत्यादि अँगरेज़ी के शब्द हैं, मगर ये हमारी ज़बान पर इतने स्वाभाविक हो गए हैं कि इनको त्यागना अपने मुँह पर ताला लगाना है। यही हाल उन उर्दू-शब्दों का है, जो हमारे बोलचाल में आते हैं।

हिंदी और उर्दू का भेद ज़बान ने नहीं, लिखावट ने पैदा कर रक्खा है, क्योंकि एक जगह के रहनेवाले आपस में एक

ही ज़बान बोलेंगे। जैसे कहना है "वह आए", तो ज़बान यही कहेगी कि "वह आए, मगर हिंदी और उर्दू की लेखनी महारानी उस भेद को और पक्का बनाने के लिये इसका अनुवाद करके यों लिखेंगी कि "उन्होंने पदार्पण किया" और "उन्होंने क़दमरंजा फ़रमाया"। इस पर इधर पंडितजी ने बलिहारी का राग अलाप दिया, तो उधर मुल्लाजी ने सुभान-अल्ला का शोर मचा दिया। बस दोनो की भाषा शुद्ध और टकसाली हो गई। और मज़ा यह कि दोनो में किसी को भी मातृभाषा हाथ न लगी, और दोनो ही राष्ट्र-भाषा से कोसों दूर हो गईं, क्योंकि न 'पदार्पण' का कोई हर जगह समझने-वाला है, और न 'क़दमरंजा' का।

इसलिये अगर हिंदी मातृभाषा तथा राष्ट्र-भाषा कहलाने का दावा करती है, तो उसे झख मारकर ज़बान की भाषा को अपनाना पड़ेगा, उसी को शुद्ध और टकसाली मानकर सिर-आँखों पर बिठलाना पड़ेगा। नहीं तो यह हज़ारों सुनहली पुस्तकें, सम्मेलनों की लंबी-चौड़ी स्पीचें और विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ सब धरी रह जायँगी। और, राष्ट्र-भाषा का गौरव कहीं और ही चला जायगा। अब समय मूर्खता में पड़े रहने का नहीं है। 'टाकी' का ज़माना आ गया। वह बहुत जल्द साबित कर देगी कि राष्ट्र-भाषा क्या है, यानी किस भाषा की 'टाकी' रंगून, कलकत्ता, लाहौर, पेशावर, गुजरात, बंबई, हैदराबाद, अदन और ट्रांसवाल में सर्वत्र समझी जाती है।

उस भाषा को अगर हिंदी नहीं अपनाती, तो अपने गले पर छुरी चलाती है।

मैं यह नहीं कहता कि कठिन या संस्कृतोत्पन्न शब्दों का प्रयोग बंद कर दिया जाय। नहीं, वह भी रहे। भाषा में हर गहराई और हर डील-डौल के शब्द होते हैं। वह साहित्य की धराऊ पोशाक है, जो किसी-न-किसी ख़ास मौक़े के लिये है। मगर शुद्ध और टकसाली हिंदी की प्रतिष्ठा उसी को मिलनी चाहिए, जो हमारी स्वाभाविक भाषा है, और जो रोज़ाना इस्तेमाल होती है। इसके शब्दों की छान-बीन, उनके प्रभाव की जाँच-पड़ताल और उसकी शैली की समता सच्ची योग्यता और कुशलता चाहती है। ज़रा-सी ही चूक में मामला बिगड़ जाता है। इसलिये विश्वविद्यालयों को चाहिए कि इसको असली हिंदी समझकर अपने छात्रों को इसका प्रयोग करना सिखाएँ। वही छात्र हिंदी में सबसे अधिक नंबर पाने योग्य है, जो स्वाभाविक भाषा का प्रयोग इतनी उत्तमता से करे कि शैली में कहीं पर सिकुड़न पड़कर कोई शब्द अनमेल या पराया न जान पड़े, प्रभाव की पूरी धाक जमाए, विचारों में अनुवाद की झलक या बनावट की बू न आए। तभी साहित्य का भी अंग-अंग फड़ककर अपनी पूरी शोभा दिखा सकता है।

[४]

नाटक बनाम टाकी

ज्ञानियो, सलाम, बंदगी और पालागन के बाद निवेदन है कि सेवक ने इसी आशा से आप लोगों की सेवा में हाज़िर होने का हौसला किया था कि आप लोगों के ज्ञान के भांडार से थोड़ा-थोड़ा भी दान पा जाने से इसका सौभाग्य बन जायगा, क्योंकि ज्ञानियों की संगत बड़ी चीज़ है। मगर इसके लिये यह मालूम हुआ कि सेवक को इस सभा में कुछ सुनाना भी पड़ेगा। बात तो ठीक है, क्योंकि विना गाए या रोए भीख भी नहीं मिलती। पर भाग्य की बलिहारी कि सेवक न गवैया है, और न कवि। गाना या रोना क्या जाने। इसलिये नाटक और टाकी के संबंध में जो कुछ थोड़ा-बहुत अनुभव इस सेवक के पास है, उसी की डाली लगाकर, सुदामा की एक मुट्ठी चावल की तरह, आपकी शुभ सेवा में भेंट करने के लिये लाया है।

महत्त्व

नाटक और टाकी के विषय कितने महत्त्व के हैं, यह आप इसी से समझ सकते हैं कि काव्य की तरह ये किसी एक व्यक्ति

के भाव, कल्पना और विचार नहीं प्रकट करते, वरन् सकल देश और समस्त समाज के आचार-विचार, भाव, कल्पना और रुचि का संसार में ढिंढोरा पीटते हैं, क्योंकि नाटक और टाकी, दोनो ही अपनी सफलता के लिये अपने देश, समाज और समय को हाथ में लिए रहते हैं। इसी से हम इनमें लेखक का उतना परिचय नहीं पाते, जितना दर्शकों का। फिर ऐसे विषय—जिनके द्वारा दुनिया हमको देखती, पहचानती और परखती है, अर्थात् जिन पर हमारे देश, समाज और साहित्य की लाज निर्भर है—हमारे ज्ञानियों के ध्यान देने के लिये कितने ज़रूरी हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। देश या साहित्य की आबरू गई, तो हमारे ज्ञानियों की नाक पहले गई। उस पर टाकी की तरह नाटक केवल हमारा बाहरी रूप, गुण और प्रचलित आचार-विचार ही बताकर नहीं रह जाता, बल्कि हमारा भीतरी सौंदर्य भी, हमारे आदर्श, हमारी कल्पना और हमारी सूक्ष्म कलाओं के रूप में, संसार के सामने रख देता है कि लो, आँखें खोलकर देखो, हम क्या हैं, और हमारी फुलवारी कैसी है, जिसके हम फूल हैं।

आधुनिक दशा

ये दोनो विषय इस कारण भी आपके ध्यान देने योग्य हैं कि आपकी उचित कृपा-दृष्टि के बिना इन दोनो की इन दिनों जैसी हालत हो रही है, सभी जानते हैं। टाकी यद्यपि सभी की आँखों में समाई हुई है, तथापि अभी इतनी नई-नवेली है

कि इसने घूँघट उठाकर अभी अपना रास्ता तक नहीं देखा। इसे अब तक यही खबर नहीं कि मैं हूँ क्या, मेरा कर्तव्य, उद्देश, प्रभाव और आदर्श क्या है। इन्हीं की खोज में कभी वह ज़मीन-आसमान एक करने लगती है, तो कभी बौखलाई हुई नाटक के अखाड़े में घुस पड़ती है।

इधर टाकी का यह हाल है, तो उधर नाटक बुढ़ापे के मारे बेहाल है। वृद्धावस्था ने इसे कैसा अपाहिज बना दिया है, यह इसी से देख लीजिए कि यह साहित्य का सिरमौर होने पर भी ज्ञानियों की इतनी बड़ी सभा में किसी ने भी इसकी ओर निगाह नहीं डाली। प्रकाशकों के सूचीपत्रों में नाटकों की भरमार है सही, परंतु जब उन्हें रंग-मंच पर लाना पड़ता है, तब पता चलता है कि वे कितने पानी में हैं। संस्कृत और अँगरेज़ी, जिनके प्रभाव हमारे साहित्य पर बहुत कुछ पड़े हैं, और पड़ रहे हैं, नाटक की आलोचना, व्याख्या और आदर्शों से भरी हैं, पर तो भी हमारे नाटकों की ऐसी दुर्दशा है! क्यों? ज़माने ने उसके विषय और कला को इतना पुराना कर दिया है कि वे अब काम नहीं देते। उन्हें झाड़-पोंछकर समयानुकूल बनाना और उनमें नई जान डालना केवल ज्ञानियों ही के वश की बात है। मगर हमारे ज्ञानियों को तो समस्या-पूर्ति की लगन लगी हुई है, या इस समस्या के सुलझाने से फ़ुरसत नहीं मिलती कि आसमान से पहले आम टपका या आम का पेड़।

कुछ लोगों का भ्रम यह है कि टाकी से नाटक की जगह छिन जाने के कारण वह हमारी नज़रों में फीका पड़ने लगा है। मगर कहाँ नाटक और कहाँ टाकी? दोनो में बड़ा भेद है। दोनो की कलाओं में आकाश-पाताल का अंतर है। इन्हीं मुख्य-मुख्य भेदों को इस कथन में बताकर यह दिखलाने का मेरा इरादा था कि दोनो की जाति अलग है। जिस तरह फ़ोटो-ग्राफ़ी चित्रकारी को नष्ट नहीं कर सकी, उसी तरह टाकी भी नाटक को निर्मूल या निर्जीव नहीं बना सकती। मगर सभा के सेक्रेटरी साहब डॉक्टर ताराचंदजी की यह आज्ञा है कि आधुनिक पश्चिमीय नाटक-कला पर प्रकाश डालो, जिससे हमारे आजकल के नाटकों की त्रुटियाँ, सुधार के लिये, जानी जा सकें, या नाटक में हास्य का स्थान बताओ। अपने कथन के उद्देश के साथ इन दोनो बातों को मिला देने से विषय इतना विस्तृत और गंभीर हो जाता है कि इसके लिये मोटे-से-मोटे ग्रंथ की भी जगह कम है। क्योंकि नवीन कला का प्रयोग तभी समझ में आ सकता है, जब प्राचीन कला पर भी नज़र रक्खी जाय। इन सभी बातों को एक लेख वा भाषण में दिखलाना समुद्र को अंजलि से उलचना है—मुश्किल ही नहीं, असंभव है। ख़ैर, फिर भी इस ढंग से कोशिश करने जा रहा हूँ कि मामूली बातों में ही इन कुल गुत्थियों का रहस्य आप-से-आप खुल जाय, ताकि डॉक्टर साहब की आज्ञा का पालन भी कर सकूँ, अपने उद्देश्य को भी न भूलूँ, और सबसे बड़ी

बात यह है कि आपका समय भी ज्यादा ख़राब न होने पावे। इसके लिये कुछ दूर तक उपन्यास की भी मदद लेनी पड़ेगी।

प्रधान गुण

प्राण लेने के लिये जिस तरह तलवार, बर्छी और लाठी के लक्ष्य और चालें अलग-अलग हैं, क्योंकि तलवार गर्दन को ताकती है, बर्छी सीने को देखती है, तो लाठी खोपड़ी पर निशाना लगाती है, उसी तरह मानवीय जीवन-लीला को स्वाभाविक और रोचक ढंग पर दिखाने का एक ही उद्देश्य रखने पर भी नाटक, टाकी और उपन्यास, तीनो अपना-अपना चमत्कार भिन्न-भिन्न रूपों ही से दिखाते हैं, क्योंकि कहानी अंकित करनेवाले रंगों में अगर नाटक में विलक्षणता और संवाद प्रधान है, तो टाकी में विचित्रता तथा चाल और उपन्यास में नवीनता एवं चित्रण की मात्रा विशेष रक्खी जाती है। किसी की विशेषता जहाँ दूसरे में प्रधान बना दी गई, वहाँ उसका प्रभाव नष्ट हुआ। हमारे यहाँ के आधुनिक नाटक और टाकी में पहला दोष यही है कि कोई भी अपने प्रधान गुणों की परवा नहीं करता। हमारे बहुत-से समालोचक और संपादक भी, जिन पर रास्ता दिखाने का भार है, इस मामले में स्वयं ही ऐसे पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं कि दाँतों-तले उँगली दबा-कर रह जाना पड़ता है, हड़, बहेड़ा और आमला की तरह स्वाभाविकता, चरित्र-चित्रण और उच्च विचार, बस तीन

दवाएँ हाथ लग गईं, और इन्हीं के सहारे वे साहित्य-संसार के वैद्यराज बन बैठे हैं।

स्वाभाविकता

पहले स्वाभाविकता ही का रूप ज़रा नाटक में देखिए। रंग-मंच पर दो पात्र बातचीत कर रहे हैं। दोनो की बातचीत में कवित्व की ख़ासी झलक है, यहाँ तक कि अक्सर पूरी बात भी पदों में कही जा रही है। ऐसी बातचीत हमें संसार के किसी कोने में सुनने को नहीं मिलती। फिर भी हमें इसकी अस्वाभाविकता नहीं खटकती, वल्कि हम और फड़क उठते हैं।

दोनो में से एक मुँह फेरकर कुछ अपने मन में कहता है, इतने ज़ोर से कि पचास फ़ीट की दूरी पर बैठे हुए हज़ारों दर्शक उसे अच्छी तरह सुन रहे हैं। मगर दूसरा पात्र, जो उसके मुँह के पास ही खड़ा है, वहिरा न होने पर भी, ज़रा भी नहीं सुन पाता। ऐसी अस्वाभाविकता! तब भी हम विश्वास करते हैं कि उसने सचमुच नहीं सुना।

एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के पास आता है। एक अजीब नख़रों के साथ गानों में बातचीत होने लगती है। यह अस्वा-भाविकता हमें खटकने के बदले उलटे ऐसा मंत्र-मुग्ध कर देती है कि उसे दुबारा देखने और सुनने के लिये हम अधीर होकर Once More की ताली तक पीट देते हैं।

अब आप समझ सकते हैं कि नाटक में स्वाभाविकता का असली रूप नहीं, बल्कि उसका भ्रम-मात्र पैदा किया जाता

है। यही भ्रम नाटक का प्राण है। इसी का मंत्र फूँककर वह अपनी विलक्षणता को स्वाभाविकता के रूप में देखने के लिये हम पर जादू डालता है, और इसी के साथ यह भी बताता है, कि यद्यपि हम तुम्हारे ही संसार की लीला दिखा रहे हैं, तथापि हमारा स्टेज तुम्हारे संसार के स्टेज से कहीं ऊँचा है। इसलिये हमारे-तुम्हारे क़ानून-क़ायदों में बड़ा भेद है। अगर तुम्हें हमारी किसी बात को जाँचना है, तो उसे हमारे नियमों से परखो, अपने से नहीं। पर यह विलक्षणता, बनावट या अस्वाभाविकता की मात्रा वहीं तक रक्खी जाती है, जहाँ तक भ्रम की सीमा है। आगे बढ़ी कि मामला चौपट हुआ।

अब देखना चाहिए कि नाटक को आख़िर ऐसा भ्रम पैदा करने की क्या ज़रूरत है। इसीलिये कि इसका सारा खेल इसी भ्रम पर निर्भर है। यहाँ तक कि जो सड़क का दृश्य हम आँखों के सामने देख रहे हैं, वह सड़क नहीं, धोखे की टट्टी है। न उस पर भीड़ है, न कोलाहल, न गाड़ियाँ और न जीवन का कोई लक्षण। ऐसे निर्जीव दृश्य को हम सचमुच सड़क तभी समझ सकते हैं, जब भ्रम के आवेश में हों। इस भ्रम को जारी रखने के लिये 'जैसा देस, वैसा भेस' का भी होना ज़रूरी है, ताकि स्थान, क्रिया और चरित्र, तीनो एक दूसरे से मेल खाते हुए अपना एक नया संसार बनाकर हम पर भ्रम का पूरा प्रभाव डाल सकें।

मगर टाकी में सड़क हूबहू वैसी ही दिखाई पड़ती है, जैसी

हम वास्तविक संसार में पाते हैं, क्योंकि यह उसी का जीता-जागता फ़ोटो है। अब इस सड़क पर नाटक की तरह अगर टाकी तमाशा दिखावे, तो वह 'आधा तीतर, आधा बटेर' होकर ख़ाहमख़ा ही निगाहों में खटकेगा। यानी जो बात नाटक में गुण बढ़ानेवाली होती है, वही टाकी में दोष पैदा करने-वाली बन जाती है। इसीलिये टाकी में विलक्षणता नहीं, विचित्रता अपना चमत्कार दिखाती है, जिसमें स्वाभाविकता का साक्षात् रूप होता है।

स्वाभाविकता का यही रूप उपन्यास में भी होना चाहिए, क्योंकि उपन्यास शब्दों के ज़रिए सिर्फ़ ज़रूरी बात उल्लेख करके कल्पना में दृश्य का चित्र खींचता है, जिसकी कमी को कल्पना अपने निजी अनुभव से पूरा करके झट वैसा ही बना लेती है, जैसा रोज़ वह असली दुनिया में देखती है। मगर शब्द क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न दृश्य नहीं बना सकते। चित्रण करने में समय लगता है। यहाँ न नाटक की विलक्षणता काम देती है, न टाकी की विचित्रता का वश चलता है। इसलिये यहाँ नवीनता अपना रंग जमाती है।

रहस्य

इस तरह नाटक का प्रधान गुण जान लेने के बाद इस पर भी अब विचार कर लेना मुनासिब मालूम होता है कि हम अच्छा-ख़ासा दिमाग़ लेकर भी उसके भ्रम में किस तरह पड़ जाते हैं, ताकि इसका रहस्य और खुले। उपन्यास के सामने

बस एक पाठक है, जो पढ़ते-पढ़ते बीच में सो भी जाता है, या किसी ज़रूरी काम में अक्सर लग जाता है। मगर नाटक के सामने हज़ारों दर्शक हैं—सभी रंग और सभी मिज़ाज के। उन्हें मुट्ठी में लेना और इस तरह कि उन्हें आँख झपकाने तक का भी मौक़ा न मिले, सिर पर पहाड़ उठाना है। इस मुश्किल को आसान करने के लिये जादूगर की तरह नाटक यह चाल चलता है कि वह हमारी आँख, कान, दिल और दिमाग़ को अलग-अलग चारा देकर—जैसे आँखों को शृंगार, कानों को संगीत, दिल को भाव और दिमाग़ को विचार—ऐसा मस्त करता जाता है कि हमारी मानसिक शक्तियों में वह तेज़ी रह नहीं जाती। और, इसके साथ ही वह अपनी कहानी का जाल हम पर इस तरह डाल देता है कि फिर हम बिला कुछ चीं-चपड़ किए चुपचाप उसमें फँसते चले जाते हैं। मगर इसके लिये कहानी भी इतनी ठोस होनी चाहिए कि कहीं से भी हिलाए न हिले।

इसलिये अरिस्टाटिल की 'पोयटिक्स' में नाटक के ६ मुख्य अंग अर्थात् (१) कहानी, (२) चरित्र, (३) शैली, (४) विचार, (५) शृंगार और (६) संगीत—बताए गए हैं, और कहानी को अच्छी तरह कसने के लिये घटना, समय और स्थान की एकाग्रताओं के तीन बंधन दिए गए हैं, ताकि फंदा कहीं भी ढीला न पड़ने पावे, वरना कहानी में दर्शकों की भीड़ सँभालने की ताक़त फिर रह नहीं सकती। नाटक के ये छ

अंग और कहानी जकड़ने के ये तीन बंधन अब भी ज़रूरी हैं। सिर्फ़ भेद इतना हो गया है कि पहले नाक सीधी पकड़ी जाती थी, और अब ज़रा घुमाकर। इसीलिये इनके संबंध में योरप के समालोचक कुछ भेद बताने लगे हैं। मगर सच पूछिए, तो ये भेद रूप ही में हैं, असलियत में नहीं।

स्टेज तथा कहानी

वह भी इसलिये कि पहले ज़माने का स्टेज सादा हुआ करता था, जो एक अंक में एक स्थान, एक समय और एक सिलसिले की घटनाएँ ही दिखा सकता था। मगर अब स्टेज की बहुत कुछ उन्नति हो जाने से उसने एक अंक में आठ-दस दृश्यों तक की तरतीब रखकर कहानी में कई धाराएँ बहाने की गुंजाइश कर दी है। तो भी एकाग्रताओं के बाँधों से सब ऐसी घिरी होती हैं कि कोई अलग बहक नहीं सकती, बल्कि सब मिलकर अपनी समानता या विभिन्नता से मुख्य धारा को और भी प्रबल तथा प्रभाव-पूर्ण बनाती हैं। इसी कारण पुराने ज़माने के सात और पाँच अंकों के बदले अब नाटक तीन से लेकर एक अंक तक के होने लगे हैं, और इस तरह प्लाट-बंधन की कला पहले से अब बहुत मुश्किल हो गई है।

नाटक को अपनी कहानी में अब केवल एकाग्रता की धारा बहाने ही का नहीं, बल्कि इस बात का भी पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि वह धारा रंग-मंच की घाटियों में सरासर बहती चले। ऐसी अड़चन न उपन्यास के रास्ते में है, और न टाकी के।

कहानी में एकाग्रता रखने की फ़िक्र इन्हें भी होती है, तथापि नाटक की तरह फूँक-फूँककर क़दम रखने की ज़रूरत नहीं। ये दोनो एक स्थान के बाद दूसरा स्थान जो चाहें, अपनी कहानी की माँग के अनुसार, दिखा सकते हैं, क्योंकि उपन्यास को शब्दों से दृश्य खींचना है, तो टाकी को फ़ोटो से। मगर नाटक को अपनी कहनी उन्हीं स्थानों पर चलानी पड़ती है, जिनका सिलसिलेवार बनाते जाना स्टेज के वश में है। जैसे पहले सीन में अगर ड्राइंग-रूम है, जहाँ एक बदमाश एक आदमी का ख़ून करके चल देता है, तो दूसरे दृश्य में किसी को पलँग पर सोते हुए नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि पहले दृश्य का पट परिवर्तन आगे का पर्दा गिराकर होगा। वरना मरे हुए आदमी को उठकर ड्राइंग रूम के सामान के साथ भागना पड़ेगा। जब परिवर्तन सामने से किया गया, तब वहाँ कोई सोता हुआ आदमी अपने पलँग के साथ आप-से-आप नहीं टपक सकता। इसी ऐब के कारण हमारे यहाँ के बहुत-से नाटक अपने अखाड़े में खड़े नहीं हो पाते।

दूसरी मुसीबत नाटक की यह है कि न उपन्यास की तरह वह पीछे मुड़कर देख सकता है—जैसे आज की घटना दिखाकर, फिर दस वर्ष पीछे का हाल दिखाने लगे—और न टाकी की तरह इतना फुर्तीला होता है कि लपककर दाहने-बाएँ भी देखता चले, यानी एक समय पर होनेवाली कई जगह की घटनाओं को साथ-ही-साथ दिखा सके। जैसे कोई आदमी

होटल में खाना खा रहा है। ठीक उसी वक्त उसके घर क्या हो रहा है, टाकी इस दृश्य को क्षण-भर के लिये अद्धड़ ही में बंद करके दिखा देगी, फिर उसे बंद करके पहले दृश्य को जारी कर देगी। इसलिये नाटक, टाकी और उपन्यास, तीनो अपने प्रधान गुण ही अलग-अलग नहीं रखते, बल्कि उनकी कहानी-कला भी एक दूसरे से बिल्कुल न्यारी है।

प्राचीन कला

तीसरी बात नाटक के लिये यह जरूरी है कि उसकी कहानी खूब गठी हुई होने के अलावा महत्त्व-पूर्ण भी हो, ताकि वह आसानी से अपनी धाक जमाकर हम पर अपना जादू डाल सके। इसलिये उसके विषय और चरित्र बहुत छाँटकर चुने जाते हैं। यह रोब पहले ज़माने में ऐसे प्रसंगों से पैदा किया जाता था, जिन पर जनता की श्रद्धा और अंध-विश्वास हुआ करता था, और महत्त्व लाने के लिये ऐसे चरित्र लिए जाते थे, जिनके लिये दर्शकों के दिल में आदर, भक्ति और डर होता था, जैसे देवता, महात्मा, राजा, शूरवीर, देव, भूत इत्यादि। इसीलिये संस्कृत का अलंकार-शास्त्र, जिसके अनुसार हमारे यहाँ के नाटक और अरिस्टाटिल की 'पोयटिक्स,' जिसके इशारों पर योरप के नाटक बहुत दिनों तक चलते आए हैं, दोनो ही का यह कहना है कि नाटक का नायक कोई महा-प्रतापी चरित्र हो। दोनो में सिर्फ फ़र्क इतना है कि हमारा नायक सब गुणों से भरा हुआ होता था, जिनके द्वारा वह

सब मुसीबतों को पार करके अंत में सुख पाता था, क्योंकि हमारे यहाँ नाटक को दुःख में समाप्त करने का रिवाज नहीं था। पर यूनान के गंभीर नाटक शोकांत होने के कारण उनका नायक महा गुणवान् होने पर भी कुछ-न-कुछ ऐब रखता था, जो अंत में जाकर उसकी बरबादी का कारण बन जाता था।

जहाँ महत्त्व है, वहाँ शक्ति भी होनी चाहिए, इसलिये चौथी विशेषता नाटक के लिये यह है कि वह शक्तिशाली भी हो। यह शक्ति भावों के गहरे रंगों से उत्पन्न की जाती है, जिसमें मुर्दा-से-मुर्दा दिल भी धड़क उठने से बाज न रहने पाए। यही कारण है कि नाटकों में कविता का इतना बोलबाला रहता आया है, क्योंकि जितनी शक्ति कविता में है, उतनी गद्य को मुश्किल से नसीब होती है। उस पर वह विलक्षणता का रंग जमाती और ऊँचे चरित्रों की मर्यादा रखती हुई नाटक की शान भी बढ़ाती है।

नवीन कला

मगर अब अंध-विश्वास का ज़माना नहीं रहा, और न हमारे दिल में विलक्षण चरित्रों के लिये वैसी श्रद्धा और भक्ति रह गई है। इसलिये पुराने ज़माने के विषय और चरित्र, दोनो ही बेकार हो जाने से नाटक की मुसीबत अब और बढ़ गई है। धार्मिक प्रसंगों को छोड़कर इसे अब मनोवैज्ञानिक अखाड़ों में अपना विषय चुनना पड़ता है। और, राजा-महाराजा के बदले अब यह ऐसे चरित्रों से काम चलाता है,

जो अपना कोई ख़ास बड़प्पन रखकर व्यक्ति-वाचक अर्थात् Proper Noun नहीं, बल्कि किसी सभा सोसाइटी, समुदाय या जाति के बोध करानेवाले जाति-वाचक अर्थात् Common Noun होते हैं। ऐसे चरित्रों को दुनियावी मुसीबतों में डाल-कर, रस्म-रिवाज या किसी क़ायदे-क़ानून से लड़ाकर या ख़ुद उन्हीं के विचार और भावों में युद्ध कराकर उनकी सहनशीलता, त्याग, बलिदान इत्यादि से उन्हें महत्त्व-पूर्ण बनाया जाता है, और कहानी की सहायक धाराओं की समानता या विभिन्नता से मुख्य धारा को और भी प्रबलतर कर दिया जाता है।

जब चरित्र जाति-वाचक हो गए, तब उनकी ज़बान भी सर्व-साधारण करनी पड़ी। इस तरह कविता की हुकूमत नाटक के अखाड़े से उठ गई। इसीलिये देशी-विदेशी समालोचक स्वाभाविकता की बधाई बजाने लगे हैं।

मगर सच पूछिए, तो यह बधाई योरप के उन नाटकों की कलाओं पर है, जिन्होंने अपने भ्रम पैदा करने में वह सफ़ाई दिखाई है कि दर्शक तो क्या, ज्ञानी भी चक्कर में पड़ गए हैं।

यद्यपि भ्रम पैदा करनेवाली विलक्षणता अब कहानी की ऊपरी सतह अर्थात् चरित्र और घटनाओं में नहीं होती, तथापि यह नाटक का साथ छोड़ नहीं सकती; इसलिये अब यह कहानी की भीतरी काट-पेंच में और भावों के उतार-चढ़ाव में अपनी करामात दिखाती है।

जिस तरह नाटक के लिये शान और ताक़त ज़रूरी है,

उसी तरह टाकी के लिये तेज़ी और चंचलता। नाटक में एक दृश्य पाँच मिनट से कम का नहीं बन सकता, तो टाकी में कोई दृश्य पाँच मिनट से ज्यादा का नहीं रक्खा जा सकता। इस पाँच मिनट के दृश्य को भी वह नज़दीक या दूर और भिन्न-भिन्न कोनों से छटा दिखा दिखाकर घड़ी-घड़ी तोड़ती रहती है। इसी क्षण-क्षण की विचित्रता से वह ध्यान को थकने नहीं देती, और मन को फाँसती चली जाती है। इसमें कोई भी ऐसी बात नहीं होनी चाहिए, जो दृश्य को देर तक अटकाए रक्खे। जैसे बहस-मुबाहिसे, भावों के उतार-चढ़ाव की पूरी दौड़ इत्यादि। इसी ख़याल से गाने भी इसमें बहुत कम, बहुत छोटे और सिर्फ़ उन्हीं स्थानों पर रखने चाहिए, जहाँ भाव के आवेश में पड़कर लोग असली दुनिया में गा उठते हैं। वह भी महफ़िल को छोड़कर हर जगह बिना बाहरी साज़ के हों, क्योंकि उसे निबाहने के लिये नाटक की विलक्षणता टाकी में नहीं होती।

संवाद

नाटक और टाकी दोनो ही अपनी कहानी को संवाद के सहारे चलाते हैं। मगर नाटक में संवाद का स्थान आगे है. तो टाकी में पीछे, क्योंकि उसे अपनी कहानी को हाँककर ले चलना है, तो इसे पीछे से ज़रा ढकेल देना पड़ता है। उसका यह महत्त्व-पूर्ण स्थान नाटक में इसलिये है कि वह उसका दूसरा प्रधान गुण है। उसी में नाटक चरित्र-चित्रण, मनो-

विज्ञान की काट-छाँट, साहित्य का सौंदर्य, भावों की करामात और ख़यालात की ख़ूबी दिखलाकर अपनी उँचाई पर पहुँचता है, क्योंकि नाटक को अपनी सफलता के साथ-साथ उच्चता का भी ख़याल रखना है। रूप की सुंदरता सफलता के लिये जरूरी है, तो गुणों की शोभा ऊँचेपन के लिये। जब से कविता की हुकूमत जाती रही, तब से ये बातें नाट्य (ऐक्टिंग) और प्रभाव दोनो के ख़याल से गहरे रंगों में रक्खी जाती हैं, ताकि हजारों दर्शकों के सामने ऐक्टर अपनी पूरी आवाज़ के साथ लंबे इशारों से काम ले सके, वरना Louder please (और जोर से जनाब) की चिल्लाहट में सब चौपट हो जायगा। इसी कारण भाव अपनी स्वाभाविक चाल से धीरे-धीरे नहीं चढ़ाया जाता, बल्कि ऐसी युक्ति की जाती है, जिससे एक छलाँग में वह ऊपर पहुँच जाय। इसके अलावा उसका रूप बराबर बदलते रहना चाहिए, जिससे ऐक्टिंग (नाट्य) एक समान न रहने पाए।

भावों के इस चढ़ाव-उतार और उनका रूप ऐक्टिंग की ख़ातिर रह-रहकर बदलते रहने में अब विलक्षणता को स्वाभाविकता का भ्रम पैदा करने में अपना कमाल दिखाना पड़ता है। हमारे यहाँ के नाटकों में सबसे बड़ा दोष यही है कि यह कला उनमें बहुत कम पाई जाती है। इसी कारण उनके संवाद में अधिकतर बहस और व्याख्यान की धारा बह चलती है, जिससे ऐक्टिंग के हाथ-पाँव फूल जाते हैं।

टाकी के ऐक्टर के सामने दर्शकों की भीड़ नहीं, बल्कि सिर्फ़ एक कैमरा और माइक्रोफ़ोन हैं, जो आँख तक के इशारे और हल्की-सी साँस को भी बढ़ाकर निहायत ख़ूबी से दिखाते और सुनाते हैं। उसे अपनी आवाज़ और इशारों को तेज़ करने के लिये न भावों की विलक्षण गहराई की ज़रूरत है, और न इस बनावट के निबाहने के लिये साहित्यिक चमत्कार की। इस-लिये टाकी के संवाद की शोभा उसकी सादगी और स्वा-भाविकता में है।

हास्य का उद्देश्य और स्थान

यों तो नाटक और टाकी के संबंध में अब भी बहुत-सी बातें कहना बाक़ी हैं, पर अब यहाँ देखना यही रह गया है कि इनमें हास्य का स्थान और उद्देश्य क्या है।

योरप में पहले दो प्रकार के नाटक हुआ करते थे—शोक-प्रधान दुःखांत (Tragedy) और हास्य-प्रधान सुखांत (Com edy)। पर हमारे देश और समाज पर धर्म का प्रभाव अधिक होने के कारण यहाँ धार्मिक प्रसंगों तथा गुणों को सर्वविजयी करके दिखाना ज़रूरी था। इसलिये हमारे यहाँ तीसरे प्रकार के नाटक अर्थात् शोक या करुण-प्रधान सुखांत नाटक की कल्पना की गई थी, जिसमें हास्य का कुछ-न-कुछ स्थान रहता ही था। अब योरपवाले भी अपने गंभीर नाटकों को क़रीब-क़रीब इसी रूप में ढालने लगे हैं, जिसका नाम उन्होंने Tragecomedy रक्खा है। इस तरह उन्हें भी

अब अपने गंभीर नाटकों में हास्य की ओर ध्यान देना पड़ गया है।

मगर हास्य को ऐसे नाटकों में इस तरह फूँक-फूँककर क़दम रखना पड़ता है, जिससे गंभीर अंश का खेल बिगड़ने न पावे, बल्कि इसकी तुलना से उसका रंग और चोखा पड़ जाय। इसलिये जहाँ रुलाना है, वहाँ से इसे दूर भागना चाहिए, और जहाँ शांति और संतोष देना है, या कहानी में अपनी विचित्रता से सजीवता और स्वाभाविकता का रंग चमकाना है, वहाँ यह अपनी झलक दिखा दे।

इनमें से पहला काम हमारे संस्कृत से अनुवाद किए गए नाटकों में विदूषक द्वारा अच्छा किया गया है, और दूसरा भी बँगला से अनुवादित नाटकों में बहुत सुंदर मिलता है। परंतु हास्य का तीसरा उपयोग जो विलायतवालों ने निकाला है, अर्थात् कहानी की मुख्य धारा के साथ हास्य की भी एक सहायक धारा बहाई जाय, जो अपनी समानता, विभिन्नता या तुलना से उसे और भी प्रभाव-पूर्ण बनाती चले। अभी हमारे यहाँ सफलता-पूर्वक बहुत कम अपनाया जा सका है, क्योंकि हास्य की और काफ़ी ध्यान न दिए जाने के कारण वह बहुधा Comedy अर्थात् हास्य नाटक के स्थान से खिसककर Farce या कोरे प्रहसन के दर्जे में गिर जाता है, जिससे रेशम में टाट के जोड़ की तरह वह दिखाई पड़ने लगता है।

हास्य के ये ही स्थान और उद्देश्य टाकी की गंभीर कहानी में भी हैं, पर अभी उसमें इसकी अच्छी तरह आव-भगत नहीं हुई है।

कॉमेडी या हास्य-प्रधान सुखांत नाटक

कॉमेडी को हमारे यहाँ कुछ लोग केवल सुखांत नाटक समझते हैं, मगर नहीं, यह वह नाटक है, जो सुखांत होने के अतिरिक्त हास्य-प्रधान भी हो। इसी में हास्य अपने सिंहासन पर बैठकर बड़े ठाट-बाट से संसार की कुप्रथाओं और मानवीय मूर्खताओं पर अपने क़ायदे-क़ानून के साथ राज्य करता है। ये ही दोनो इसकी ख़ास सलतनतें हैं। गंभीर नाटकों की विलक्षणता में अगर आदर्श की झलक होती है तो इसकी विलक्षणता में मूर्खता का पल्ला भारी होता है। इसके चरित्रों में मूर्खता की दुम इसीलिये लंबी कर दी जाती है कि वे ध्यान को खींचकर अपने को दिलचस्प बना सकें, क्योंकि मन लुभाने-वाला कोई भी गुण इनके पास नहीं होता, और न इनके लिये किसी के दिल में आदर-भक्ति या डर होता है कि इनके पहुँचते ही सन्नाटा छा जाय। ये भाव को नहीं विचार को उभारते हैं। उस पर इनके यहाँ न कोई राजा है, न प्रजा; न ऊँचा है, न नीचा; बल्कि सभी चरित्र जाति-वाचक होकर क़रीब-क़रीब बराबर ही का दर्जा रखते हैं, और सभी मिलकर कहानी को चलाते हैं।

हृदय के बदले दिमाग़ से सरोकार रखने के कारण इस

नाटक को स्वाभाविकता का भ्रम बहुत बढ़-चढ़कर दिखाना पड़ता है। इसी कारण यह कविता की भी आव-भगत नहीं करता। हाँ, इसकी कमी को अपने गानों से कुछ पूरा कर देता है। मगर उनमें भी ऐक्टिंग की पूरी गुंजाइश रखकर भ्रम का पर्दा अच्छी तरह डाले रहता है। इसी भ्रम की सफ़ाई और चरित्र-चित्रण में इसकी उच्चता है, क्योंकि हृदय की तरह दिमाग़ आसानी से नहीं फुसलाया जा सकता, और चरित्रों को उनकी मूर्खता की लंबी दुम के साथ स्वाभाविक बना देना लोहे के चने चबाना है।

कहने के लिये हास्य-प्रधान नाटक के कई भेद हैं, पर मुख्य तीन हैं—

(१) घटना-नाटक (Comedy of Intrigues)—जब यह घटना तथा स्थितियों की तरतीब से हँसाता है।

(२) प्रथा-नाटक (Comedy of Manners)—जब यह कुप्रथाओं की हँसी उड़ाता है।

(३) चरित्र-नाटक (Comedy of Humours)—जब यह मानवीय मूर्खताओं की खिल्ली उड़ाता है।

जिसमें चरित्र-चित्रण नहीं होता, और कहानी भी इतनी बेतुकी होती है कि स्वाभाविकता का भ्रम नहीं पैदा कर सकती, तब वह नाटक के दर्जे से गिरकर कोरा प्रहसन (Farce) होकर रह जाता है।

जहाँ तक हास्य-प्रधान नाटक घटनाओं और स्थितियों के

बल हँसी उत्पन्न करता है, वहाँ तक उसे टाकी नाटकीय रंग छुड़ाकर बेखटके अपना सकती है।

अब रहा घटनाओं और चरित्रों में हास्य पैदा करना। इसकी वही कला है, जिसका ब्योरा मैं द्विवेदी-मेला में दे चुका हूँ। उसे अब फिर यहाँ दुहराना उचित नहीं। और, समय भी बहुत लगेगा। हास्य-प्रधान नाटक पहले तो हमारे यहाँ बिलकुल न थे, पर अब कुछ इने-गिने हो चले हैं। उनमें सुधारने के लिये कौन-कौन-से दोष हैं, यह समझना और बताना दूसरों का काम है; क्योंकि बदक़िस्मती से उनमें अधिकतर मेरे ही नाटक हैं—कुछ अपने और कुछ 'मौलियर' के आधार पर रचे हुए।

अंत में आपके अमूल्य समय को नष्ट करने के लिये बारंबार माफ़ी माँगता हुआ इस अनुरोध के साथ अपने कथन को समाप्त करता हूँ कि आप लोग नाटक और टाकी की भी ज़रा सुधि लीजिए—उसे उसकी बीमारी से बचाइए, और इसे गुमराह होने से, क्योंकि इन पर साहित्य, समाज और देश, तीनो की लाज निर्भर है।

[५*]

शिक्षा के आवश्यकीय अंग

शिक्षा के आवश्यकीय अंग पर विचार करने के पहले यह देख लेना ज़रूरी है कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है—पढ़ा-लिखाकर नौकरी के लिये दर-दर की ठोकरें खिलाना, या नौकरी न मिलने पर 'घर-फूँक बहादुर' बनाना ? क्योंकि पढ़े-लिखों का काम एक पैसे की तंबाकू की जगह पर बिना दस पैसे की सिगरेट की डिब्बी के नहीं चलता ! या बड़प्पन के नशे को इतना चढ़ा देना कि पृथ्वी पर पाँव ही न पड़े, और ज़बान भी ऐसी ऐंठ जाय कि 'त' के बदले 'ट' कहने लगे। जैसे कहना है कि 'तुम कहाँ जाते हो', तो बोलो 'टुम कहाँ जाटा है ?' या लियाक़त को इस तरह अंधाधुंध भर देना कि हर साँस में वह बलबलाने लगे, यहाँ तक कि मुँह से जो शब्द निकले, वही डेढ़

---

* ता० ६ फ़रवरी, १९३६ को शिक्षक-सम्मेलन, गोंडा में हास्य-रस के प्रसिद्ध लेखक श्रीजी० पी० श्रीवास्तव, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, ने 'शिक्षा के आवश्यकीय अंग' पर यह मनोरंजक भाषण दिया था, जो यहाँ प्रकाशित किया जाता है।—संपादक

हाथ का ? अगर शिक्षा के ये ही उद्देश्य हैं, तो मेरी समझ में ऐसी शिक्षा से बिना शिक्षा ही के रहना भला। इसलिये शिक्षा के मानी अवश्य ही कुछ और हैं। और वे क्या हैं ?

ईश्वर ने मनुष्य को दो प्रकार की शक्तियाँ दी हैं, एक शारीरिक और दूसरी मानसिक। यही दूसरी शक्ति आदमी को आदमी बनाती है, क्योंकि सच पूछिए, तो शारीरिक बल में हमसे एक गधा बढ़ा-चढ़ा है। फिर भी हम उसे क्या, बड़े-बड़े हाथी तक को वश में किए हुए हैं। कैसे ? अपने मस्तिष्क के प्रताप से। इसकी शक्ति को जिन जातियों ने जितना ही बढ़ा लिया है, उतनी ही उनकी धाक जमी हुई है, और उतना ही वे मौज कर रही हैं। इसी मानसिक शक्ति के बढ़ाने का काम शिक्षा के सर है।

शिक्षा भी दो तरह की है---एक ज़रूरी और दूसरी ख़ास। ज़रूरी शिक्षा उन बातों को बताती और सिखाती है, जो आदमी को आदमी बनाती हैं, और जिनकी आवश्यकता हर व्यक्ति को जीवन में बराबर पड़ती रहती है। और, ख़ास शिक्षा वह है, जो किसी ख़ास काम के लिये तैयार करती है, जैसे डॉक्टरी, वकालत इत्यादि। इसलिये ख़ास शिक्षा किसी-किसी के लिये है, मगर ज़रूरी सबके लिये आवश्यक है। जैसे किसी को अगर यह मालूम न हो कि रुपए में कितने आने और कितने पैसे होते हैं, और रुपए की दस सेरवाली चीज़ चार आने को कितनी मिलेगी, तो वह बाज़ार से कोई सौदा भी ठीक नहीं

ख़रीद सकता। इसलिये ज़रूरी शिक्षा में एक मद हिसाब का रखना ज़रूरी समझा गया।

हिसाब

मगर स्कूलों में इसकी शिक्षा का हाल कुछ न पूछिए। एक तो करेला वैसे ही कड़वा, उस पर नीम-चढ़ा। नतीजा यह हो रहा है कि लड़के बेचारे इससे लाभ पाने के बदले अपने कर्मों को रोते हैं, और शिक्षक तथा परीक्षक, दोनो को जैसी दुआएँ दे रहे हैं, उन्हीं के दिल जानते हैं। शिक्षा-विभाग में एक-से-एक ज्ञानी होने पर भी कोई महापुरुष इस झगड़े में नहीं पड़ना चाहते कि ज़रूरी शिक्षा में लड़कों के लिये हिसाब की कौन-कौन-सी बातें पढ़ाई जानी आवश्यक हैं और कौन-कौन-सी नहीं। अनाड़ी की बंदूक़ की तरह अल्लम-ग़ल्लम-घास-कूड़ा सब बच्चों के दिमाग़ में इस तरह ठूँसने की कोशिश की जाती है कि उनका दिमाग़ अगर किसी तरह भी ख़राब न होता हो, तो ख़राब हो जाय। यह हिसाब की किताब और 'कैरीकुलम' बनानेवालों की तारीफ़ है। सीधी-सादी बात को इतना टेढ़ा-मेढ़ा करके लिखेंगे कि समझ भी पनाह माँगती है। हिसाबों के नाम तक रखने में भी यही करतब दिखाया जाता है। 'दर सूद' को अगर 'दर सूद' ही लिखें, तो उनकी योग्यता फिर क्या रह जाय? इसलिये उसका नाम रख दिया 'चक्र वृद्धि ब्याज', ताकि नाम ही से लड़कों की अक़्ल चकर-घिन्नी हो जाय। उस पर लगभग सारा हिसाब छोटे दर्जों ही

में समाप्त करने का नियम बनाकर लड़कों पर एक पहाड़ ढा दिया। और, हिसाब भी कैसे-कैसे कि—एक हौज़ में तीन नल हैं, एक से फ़ी सेकिंड डेढ़ पाव पानी निकलता है, दूसरे से फ़ी मिनट १० गैलन पानी जाता है और तीसरे से फ़ी घंटा पच्चीस मन, अगर हम पहले और तीसरे नल को एक साथ और दूसरे को पंद्रह मिनट बाद खोलते हैं, तो हौज़ दस घंटे तिरपन मिनट में भर जाता है, तब बताओ कि हौज़ कितना बड़ा है? मेरी समझ में इसका बिलकुल सही जवाब यही हो सकता है कि जनाब, आपका हौज़ जहन्नुम से भी बड़ा है।

कहाँ बच्चों की समझ और कहाँ यह हिसाब? और ज़रूरी शिक्षा में इसकी ज़रूरत? रहे इम्तिहान लेनेवाले। यह रंग देखकर वह भला कब चूकने लगे? सवालों में ऐसी-ऐसी पहेलियाँ बुझाते हैं कि अकसर यह पता पाना मुश्किल हो जाता है कि लड़कों की लियाक़त की जाँच हो रही है या खुद उनकी। यही वजह है कि हिसाब में एक बी० ए०-पास भी किसी बनिए या बज़ाज़ की दूकान पर काग़ज़-पेंसिल से बिना कई बार हिसाब लगाए अपना लेन-देन समझ नहीं पाता, और दूकानदार ज़बानी धड़ाधड़ बता देता है। अब देख लीजिए, हिसाब का ज्ञान बी० ए०-पासवाले का अच्छा है या दूकानदार का। अगर दूकानदार का है, तो इसका सबब यही है कि उसने सिर्फ़ वे ही हिसाब सीखे हैं, जिनकी ज़िंदगी में ज़रूरत पड़ती है और अपने दिमाग़ को बी० ए०-पासवाले

की तरह हौज़ के हिसाब में ग़ोता लगाकर डुबो नहीं दिया है। इसलिये मेरी राय में छोटे-छोटे दर्जों में ऐसा ही हिसाब होना चाहिए, जिससे हमें काम पड़ता है। कंकड़ियों के ढेर लगाकर एक लड़के को दूकानदार और एक को ख़रीदार बनाकर आपस में लेन-देन कराया जाय, तो इसकी शिक्षा में बहुत कुछ आसानी हो सकती है।

भाषा

जिस तरह हिसाब शिक्षा का एक ज़रूरी और मुख्य अंग है, उसी तरह भाषा भी है, ताकि बारीक-से-बारीक विचार भी सही और सुंदर ढंग से प्रकट किया जा सके। क्योंकि ख़याल की पोशाक शब्द है। अगर पोशाक भद्दी हुई, तो अच्छी सूरत भी बिगड़ जाती है। जैसे एक स्त्री कुएँ पर पानी भर रही थी। एक ने उससे आकर कहा—"माता, ज़रा पानी पिला दे।" उसने पानी पिला दिया। यह देखकर दूसरे प्यासे साहब ने मूछों पर ताव देकर दिल में कहा कि अब नुसख़ा हाथ आ गया। चलो, हम भी पानी पी आवें। चट उसके पास जाकर बोले—"ऐ मेरे बाप की जोरू! एक घूँट मुझको भी पिला देना।" बस, फिर क्या था—"ले दाढ़ीजार! तू भी क्या कहेगा?" यह कहकर उस औरत ने भरा घड़ा हज़रत के सर पर दे मारा।

मगर भाषा की किताबें जो हिंदी और उर्दू में शिक्षा के लिये तैयार की जाती हैं, उनमें कठिन शब्दों की कुछ ऐसी भरमार होती है कि नासमझ बच्चे पढ़ने का यह मतलब सम-

झते हैं कि योग्यता इस बात में है कि भाषा को जितना हो सके, कठिन बनाओ। जब छोटे दर्जों की उर्दू की किताबों में ग़ालिब की ग़ज़लें और हिंदी में पुरानी भाषा की कविताएँ रक्खी जाती हैं, जिनके मानी निकालना किसी गहरी पहेली समझने से कम नहीं है, तो बच्चे बेचारे क्यों न ऐसा समझें? नतीजा यह हो रहा है कि उनकी ज़बान न अपने ख़याल की सच्ची होती है और न असर में पक्की, जो भाषा का मुख्य उद्देश्य है। तभी तो एक पढ़े-लिखे का यह हाल हुआ कि—"आब-आब कर मर गए, और सिराहने रक्खा पानी!"

ऐसे तमाशे अक्सर देखने को मिलते हैं। एक दोस्त ने एक मौलाना से पूछा—"कहिए, इन दिनों आपके बाप कहाँ हैं?" सुनते ही मौलाना आग हो गए। बिगड़कर बोले—"अजीब अहमक़ हो जी! तुम्हारी ज़बान में ज़रा भी फ़साहत और बलाग़त नहीं है। तालीम-याफ़्ता होकर ऐसी बदतमीज़ी? हमारे वालिद माजिद और पिदर बुज़ुर्गवार की शान में 'बाप'! ऐसा मकरूह और दहक़ानी लफ़्ज़! लाहौल बिलाक़ूवत!" मौलाना जोश में इतने ऐंठे कि पैर एक कुत्ते की दुम पर पड़ गया। वह बौखलाकर जो एकबारगी भूँक उठा, तो मौलाना गड़बड़ाकर नाक के बल तड़ाक से गिरे, और लगे कफ़न फाड़-कर चिल्लाने—"हाय बाप रे बाप! मर गया।" अब तो दोस्त साहब से न रहा गया। लपककर बोले—"अरे! मौलाना! यह क्या ग़ज़ब करते हैं? अपनी फ़साहत और बलाग़त का तो

ख़याल कीजिए। अपने वालिद माजिद की शान में ये नाशा-यिस्ता अल्फ़ाज़ ? अजी जनाब, यह कहकर चिल्लाइए—हाय ! पिदर बुज़ुर्गवार ! जनाब, हाय ! पिदर बुज़ुर्गवार !"

शिक्षा के यह मानी नहीं हैं कि ज़बान को बनावट सिखाए। क्योंकि बनावट न ख़ुद अच्छी होती है और न किसी काम में फ़ायदा ही पहुँचाती है। जब तक निभ जाय, तभी तक उसकी ख़ैरियत है। इसके अलावा यह कभी-कभी भ्रम पैदा करनेवाली भी बन जाती है। जैसे एक दफ़ा एक यू० पी० के रहनेवाले ने यह लिखकर एक नए बंगाली बाबू की दावत की कि—"आज शाम को बराय मेहरबानी मेरे ग़रीबख़ाने पर करमफ़रमा होकर नान ख़ुश्क तनावल फ़रमाइए।" बंगाली बाबू ने अपने मुंशी से ख़त पढ़वाया, और नान ख़ुश्क का मतलब जब सूखी रोटी जाना, तब बेचारे बड़े सोच में पड़ गए। "वह गरीब है, इसलिये गोरीबखाना लिखता है, और हमको खुश्क रोटी खाने को बुलाता है। किंतु हम कैसे खाएगा ? हम तो भात खाने-वाला आदमी निश्चय ही भूखा रह जाएगा।"

इसलिये बाबूजी घर से ख़ूब पेट भरकर चले। जब खिलाने-वाले के घर पहुँचे, तो देखा कि ग़रीबख़ाना की जगह पर महल खड़ा है। बिजली की रोशनी जगमगा रही है। जब खाना आया, तो देखा कि उसमें ज़र्दा, पुलाव, सब कुछ मौजूद है। अब तो बाबूजी की साँप-छछूँदर की गति हो गई। पहले पछताकर अपने मुंशी को दिल-ही-दिल कोसने लगे कि हाय !

कमबख़्त ने नान ख़ुश्क के मानी हमको ग़लत बताकर बड़ा धोखा दिया।

घर लौटते ही बाबूजी मुंशी पर बरस पड़े—"तुम शाला अभी निकले, अभी जाए। एकदम डिशमिश।" जब मुंशी ने हाथ-पाँव जोड़कर उन्हें समझाया कि इस तरफ़ मेहमान के सामने इसी तरह अपनी छुटाई दिखाने का रिवाज है, तब बाबूजी धीमे पड़े, और इस रिवाज को बरतने के लिये दूसरे दिन खिलानेवाले को यह लिखकर दावत की कि "आज साँझ के बाखोत हमरा पोइखाना में आएके सड़ा-गला मोइला खाओ।"

यह ख़त पढ़ते ही यू० पी० के जेंटिलमैन को बुख़ार चढ़ आया। तुरंत ही बंगाली बाबू के घर दौड़े। उस वक़्त बाबू साहब ने फ़रमाया—"जब तुमरा उतना बड़ा महल गोरीबखाना है, तब हमरा इतना बड़ा घर जरूर करके पोइखाना है। जब तुमरा पुलाव, जरदा नान खुसुक है, तब हमरा मच्छी-भात जरूर सड़ा-गला मोइला है। इसमें गोलती क्या है?"

भाषा की किताबें ऐसी होनी चाहिए, जो भाषा का असली उद्देश्य प्रकट करें, बुद्धि और समझ को बढ़ाती हुई भाव और विचारों को ऊँचा करें। यह तभी संभव हो सकता है, जब बच्चों का ध्यान शब्दों के ऊपर अटकना छोड़कर सीधे मानी पर जाने लगेगा।

दूसरी आवश्यकता भाषा की शिक्षा में यह है कि उर्दू

जाननेवालों को थोड़ी-बहुत हिंदी और हिंदी पढ़नेवालों को थोड़ी-सी उर्दू भी ज़रूर पढ़ाई जानी चाहिए। क्योंकि बोल-चाल में इन दोनो के शब्द कुछ ऐसे मिल-जुल गए हैं कि बिना इन दोनो भाषाओं को जाने हुए उनका ठीक-ठीक प्रयोग करना और बोलना मुश्किल है।

भूगोल

जिस संसार में हम रहते हैं, उसकी भी जानकारी के बिना काम नहीं चल सकता। इसलिये भूगोल भी शिक्षा का एक आवश्यकीय अंग है। इसके पढ़ाने के लिये नक़शा तो ज़रूरी है ही; मगर अगर सिनेमा द्वारा देश-देशांतर की विशेषताएँ दिखाई जायँ, तो उससे बहुत फ़ायदा पहुँच सकता है। इसकी भी किताबों में मुझे अक्सर यह ऐब दिखाई पड़ता है कि पढ़ाने का डाइरेक्ट मैथड यानी सीधा उपाय चलाने की कोशिश में उनकी बातों में कोई ठीक सिलसिला नहीं रक्खा जाता, जिससे उलटे लेने के देने पड़ जाते हैं, क्योंकि बेसिलसिले की बातें आसानी से दिमाग़ में अपना घर नहीं बना पातीं।

इतिहास

इतिहास भी इसलिये ज़रूरी है कि हम पुरानी बातों से आगे के लिये सबक़ लें, और फिर वैसी भूलें न करें, जो मुल्क और जाति पर आफ़तें ढा चुकी हैं। परंतु यहाँ घटनाओं और तिथियों

की भरमार में इतिहास का असली फ़ायदा ख़ाक में मिला दिया जाता है। जितना ही ज़माना बढ़ता है, उतना ही रटने का सामान इकट्ठा कर-करके हिस्ट्री लड़कों के लिये बवाल होती जाती है। हमारे ज़माने में लाट साहब के नाम और उनकी हुकूमत की तारीखें अगर दस थीं, तो अब पच्चीस हो गई, और इसी तरह दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही हैं। इसलिये मेरी राय में तो स्कूलों में पढ़ाने के लिये हिस्ट्री ख़ास तौर से ऐसी तैयार करानी चाहिए, जो बच्चों के दिमाग़ पर बिना एक बोझ बने हुए अपने असली उद्देश्य की छाप उनके दिल पर लगा सके। इसकी शिक्षा में भी सिनेमा बहुत कुछ सहायता दे सकता है।

स्वास्थ्य-रक्षा

इन सबसे बढ़कर शिक्षा का आवश्यकीय अंग वह है, जो तंदुरुस्ती ठीक करने और बदन में फुर्ती लाने के नियम तथा उपाय बताता है। क्योंकि तंदुरुस्ती है, तो सब कुछ है, वरना सब मिट्टी है। ईश्वर की कृपा से इसके लिये स्काउटिंग की शिक्षा ज़रूर अच्छी है, और मुझे आशा है, आप लोग इसे हर तरह से उपयोगी बनाने में कोई कसर न उठा रक्खेंगे। हाँ, इस सिलसिले में फ़र्स्ट एड और स्वास्थ्य-रक्षा की भी किताबें बड़े काम की हैं। मगर ऐसी पुस्तकों में भाषा सादी, साफ़ और सुथरी होनी चाहिए। क्योंकि इसकी कई किताबों में इस तरह के जुमले देखकर मैं दंग रह गया! जैसे—"डॉक्टर बुलाने में

चिर मत लगाओ।" 'चिर' का इतना ज़बरदस्त प्रयोग पाणिनि को भी सूझा था या नहीं, मैं नहीं कह सकता। शिक्षा की किताबों में ऐसी भाषा लड़कों पर कैसा असर डालती है, आप ख़ुद सोच सकते हैं।

समाप्त

सम्मतियाँ

पटना-कॉलेज में 'साहित्य का तमाशा'-नामक भाषण के संबंध में अँगरेज़ी पत्रों की सम्मतियाँ

Leader -25-11-35.- Present day tendencies in Hindi.

" A most scathing criticism of the peresent day tendencies in Hindi Literature and language was uttered by Mr G. P. Srivastva, well known humorist and Comic writer, in his address as president of the "Hasyaras Sammelan " of the Patna College, for which he was specially invited from Gorakhpur.

Not many literary meetings are as successful as of last night. Dr. Hari Chand Shastri I.E.S. proposing Mr. Srivastava to the chair said Mr. Srivastava's writings were appreciated in the wale of Upper India right up to the Punjab. From his knowledge of other literatures including German and French, besides Hindi. Dr. Shastri said he knew of no writer who had been as much a success with both "Hasya" & "Karun Ras "

The Amrit Bazar Patrika, Calcutta 26. 11. 32.

Art must not be sscrificed.

Patna, November 21.

An extraordinary meeting of the Patna College Literary Society was held in the new Cymnasium of the College on Sunday the 20th at 6 P. M. under the

presidentship of Mr. G. P. Srivastva, B.A ,LL.B. the famous Comic writer of Hindi the author of a number of books. There was huge gathering and great enthusiasm prevailed all round. The spacious hall was packed to its utmost capacity. Professors and students of the local Colleges and also a number of other gentlemen of the town including Mr. Sachida Nand Sinha, Bar-at law. Ex finance Bihar & Orisa, Government. Dr. Hari Chand Shastri M.A., D. Litt., I.E.S., Prof. Jamuna Prashad, Prof B B Majumdar, Mr. J.D. Sahay, Mr. Murari Manohar Sinha, ex editor the "Express" Babu Madho Prasad, Mr. Phulan Prasad Varma and others were to be noticed on the occasion

The proceedings commenced with a song. Mr. Srivastva, after being garlanded delivered a most impressive, instructive, and entertaining speech sparkling with touches of humour on the present evils of Hindi Literatnre *The speech which can rightly claim to have created a new era in the Hindi Literature, was highly appreciated by me and all for both the manner and matter of it.*

द्विवेदी-मेला, प्रयाग में 'हास्य-रस'-नामक
दिए गए भाषण के संबंध में—

The Pioneer 10th May 1933

Allahabad May.

Unique address in humour

" The Literary Mela organised at Allahabad to celebrate the 70th birth day of the great Hindi Sch-

olar Pandit Mahabir Prasad Divedi came to an end yesterday.

The most interesting function however was the parody section held under the presidentship of Mr. G. P. Srivastava the well known Hindi Humorist, *who delivered an address which was like a thesis in humour sprinkled with humorous anecdotes It was appreciated for both its uniqueness and exhaustiveness.*